ISSN:2320-7736

सत्यमेव जयते

विज्ञान गरिमा सिंधु

(त्रैमासिक पत्रिका)

आयुर्वेद विशेषांक

अंक -110

जुलाइ-सितंबर 2019

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

शिक्षा मंत्रालय (उच्चतर शिक्षा बिभाग)

भारत सरकार

COMMISSION FOR SCIENTIFIC AND TECHNICAL TERMINOLOGY
MINISTRY OF EDUCATION (DEPARTMENT OF HIGHER EDUCATION)
GOVERNMENT OF INDIA

UGC approved JOURNAL
ISSN:2320-7736

विज्ञान गरिमा सिंधु

(त्रैमासिक पत्रिका)

आयुर्वेद विशेषांक

अंक - 110

जुलाई-सितंबर 2019

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

शिक्षा मंत्रालय

(उच्चतर शिक्षा विभाग)

भारत सरकार

COMMISSION FOR SCIENTIFIC AND TECHNICAL TERMINOLOGY

MINISTRY OF EDUCATION

(DEPARTMENT OF HIGHER EDUCATION)

GOVERNMENT OF INDIA

विज्ञान गरिमा सिंधु एक त्रैमासिक विज्ञान पत्रिका है। पत्रिका का उद्देश्य है- हिंदी माध्यम से विश्वविद्यालयी व अन्य छात्रों के लिए विज्ञान-संबंधी उपयोगी एवं अद्यतन पाठ्य पुस्तकीय तथा संपूरक साहित्य की प्रस्तुति। इसमें वैज्ञानिक लेख, शोध लेख, तकनीकी निबंध, शब्द-संग्रह, शब्दावली-चर्चा, विज्ञान कथाएँ, विज्ञान-समाचार, पुस्तक-समीक्षा आदि का समावेश होता है।

लेखकों के लिए निर्देश

1. लेख की सामग्री मौलिक, अप्रकाशित तथा प्रामाणिक होनी चाहिए।
2. लेख का विषय मूलभूत विज्ञान, अनुपयुक्त विज्ञान और प्रौद्योगिकी से संबंधित होना चाहिए।
3. लेख सरल हो जिसे विद्यालय/महाविद्यालय के छात्र आसानी से समझ सके।
4. लेख लगभग 2000 से 3000 शब्दों का हो। कृपया टाइप किया हुआ या कागज के एक ओर स्पष्ट हस्तलिखित लेख भेजें जिसके दोनों तरफ हाशिया भी छोड़ें।
5. प्रकाशन हेतु भेजे गए लेख के साथ उसका सार भी हिंदी में अवश्य भेजें। लेख में आयोग द्वारा निर्मित शब्दावली का प्रयोग करें तथा प्रयुक्त तकनीकी/वैज्ञानिक हिंदी शब्द का मूल अंग्रेजी पर्याय भी आवश्यकतानुसार कोष्ठक में दें।
6. श्वेत-श्याम या रंगीन फोटोग्राफ स्वीकार्य हैं।
7. लेख के प्रकाशन के संबंध में संपादक का निर्णय ही अंतिम होगा।
8. लेखों की स्वीकृति के संबंध में पत्र-व्यवहार का कोई प्रावधान नहीं है। अस्वीकृत लेख वापस नहीं भेजे जाएँगे। अत: लेखक कृपया टिकट-लगा लिफाफा साथ न भेजें।
9. प्रकाशित लेखों के लिए मानदेय की दर 2500/- रुपये प्रति हजार शब्द है तथा भुगतान लेख के प्रकाशन के बाद ही किया जाएगा।
10. कृपया लेख की दो प्रतियाँ निम्न पते पर भेजें:-

    संपादक, विज्ञान गरिमा सिंधु

    संपादक, ज्ञान गरिमा सिंधु

    वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

    पश्चिमी खंड - 7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली – 110066
11. अपने लेख E-mail द्वारा तथा CD में भी (फॉन्ट के साथ) भेज सकते हैं।

    E-mail: vgs.cstt@gmail.com
12. समीक्षा हेतु कृपया पुस्तक / पत्रिका की दो प्रतियाँ भेजें।

	सामान्य ग्राहकों/सस्थांओं के लिए	विद्यार्थियों के लिए
प्रति अंक	Rs. 14.00	Rs. 8.00
वार्षिक चंदा	Rs .50.00	Rs. 30.00
पाँच वर्ष	Rs. 250.00	Rs. 150.00
दस वर्ष	Rs. 500.00	Rs. 300.00
बीस वर्ष	Rs. 1000.00	Rs. 600.00

वेबसाइट : www. mhrd. cstt.gov.in
www.csttpublication.mhrd.gov.in
कॉपीराइट ©
प्रकाशक
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
भारत सरकार, पश्चिमी खंड -7
रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली - 110066

बिक्री हेतु पत्र-व्यवहार का पता
सहायक निदेशक, बिक्री एकक
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली
आयोग, पश्चिमी खंड -7,
रामकृष्णपुरम, सेक्टर-1,
नई दिल्ली- 110066
दूरभाष- (011) 26105211
फैक्स - (011) 26102882

बिक्री स्थान
प्रकाशन नियंत्रक, प्रकाशन विभाग
भारत सरकार,
सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054

पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। संपादक मंडल की इनसे सहमति होना आवश्यक नहीं है।

अध्यक्ष की ओर से

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दों को पारिभाषित कर नए शब्दों का विकास करता है। ज्ञान-विज्ञान के विविध अंग्रेजी शब्दों के हिंदी पर्याय निर्धारण की दिशा में आयोग ने अब तक लगभग साढ़े आठ लाख पर्यायों का निर्धारण कर दिया है। विविध विषयों के हिंदी में परिभाषा कोश और पाठसंग्रह आदि के प्रकाशन के साथ आयोग की ओर से 'ज्ञान गरिमा सिंधु' और 'विज्ञान गरिमा सिंधु' नामक त्रैमासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी किया जाता है। इनमें से 'ज्ञान गरिमा सिंधु' मानविकी विषयों पर आधारित है तो 'विज्ञान गारिमा सिंधु' विज्ञान विषयों पर आधारित है। इन पत्रिकाओं के अब तक अनेक विशेषांक प्रकाशित हो चुके हैं। इसी क्रम में 'विज्ञान गरिमा सिंधु' का आयुर्वेद विशेषांक आपको सौंपते हुए मुझे अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।

आयुर्वेद सृष्टि के आरंभ से ही मनुष्य से जुड़ा हुआ है। चिकित्सा प्रणालियों में सर्वाधिक प्राचीन आयुर्वेद ही रही है। यह जीवन जीने की कला का ज्ञान भी देता है। अपनी जीवन शैली में सुधार लाकर, उसे संयमित बनाकर दीर्घजीवी हुआ जा सकता है। एक स्वस्थ व्यक्ति किस प्रकार अपने स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाए रखे और एक अस्वस्थ व्यक्ति को कैसे ठीक किया जाए इन्हीं का विचार आयुर्वेद में है। मुझे प्रसन्नता है कि हमारे अधिकारी, डॉ. भीमसेन बेहेरा ने कम समय में इस विशेषांक की परिकल्पना को साकार कर दिखाया है। इस विशेषांक में लेखन सहयोग करने वाले लेखकों का यह आयोग आभारी है। विषय विशेषज्ञों ने परिश्रमपूर्वक लेखों की जाँच परख कर विशेषांक को उपयोगी बना दिया है। इस आयोजन से जुड़े सभी महानुभावों का आयोग की ओर से धन्यवाद ज्ञापन। विश्वास है, यह विशेषांक आयुर्वेद में रूचि रखने वालो पाठकों, छात्रों, अध्यापकों-प्राध्यापकों और अनुसंधित्सुओं के लिए लाभकारी सिद्ध होगा।

(प्रो. एम. पी. पूनियां)

स्थान : नई दिल्ली

अध्यक्ष

संपादकीय

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग की ओर से प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका 'विज्ञान गरिमा सिंधु' विज्ञान के विविध अनुशासनों संबंधी सामग्री देने वाली पत्रिका है। अब तक इसके अनेक विशेषांक प्रकाशित हो चुके हैं। उसी क्रम में यह 'आयुर्वेद विशेषांक' आपके सामने है।

इस विशेषांक में आयुर्वेद के ऐतिहासिक, सैद्धांतिक पक्षों के साथ-साथ इसके व्यावहारिक पक्ष पर भी आलेख संकलित किए गए हैं। 'आयुर्वेद' प्रचीनतम भारतीय शास्त्र है। यह जीवन जीने की विशेष शैली है। आचार्यों ने इसे 'शाश्वत' कहकर इसके महत्व को उजागर किया है। उन्होंने इसके लिए तीन अकाव्य युक्तियाँ दी हैं – "सोऽयमायुर्वेदः शाश्वतो निर्दिश्यते, अनादित्वाद, स्वभावसंसिद्ध लक्षणत्वात् भावस्वभावनित्यत्वाच्च" (च. सू. अ. 30/27) अर्थात् आयु उसका वेद (ज्ञान) अनादि होने से आयुर्वेद अनादि है क्योंकि आत्मा के समान सृष्टि भी अनादि है। 'आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्' (च. शा. अ. 1/82)। सृष्टि आंरभ से ही जड़ और चेतन अथवा निरिन्द्रिय और सेन्द्रिय दो प्रकार की रही है। इन दोनों का ही संबंध काल या समय से रहता है किंतु चेतन पदार्थ में जब तक चेतना का अनुबंध रहता है उस अवधि को आयु कहते हैं। इस आयु संबंधी अनेक ज्ञेयविषयक ज्ञान (वेद) को आयुर्वेद कहा गया है। आयुर्वेद का प्रयोजन स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करना है।

आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य – ये तीन उपस्तंभ हैं। इन तीनों उपस्तंभों का युक्तिपूर्वक सेवन करने से यह शरीर उपस्तब्ध (स्थिर) होकर जब तक संस्कारित रहता है, तब तक वह बल, वर्ण, उपचय (वृद्धि) से उपचित होकर उचित रूप में रहता है। उप का अर्थ सहायक और स्तंभ का अर्थ खंभा है। मकान में दो प्रकार के खंभे होते हैं – एक प्रधान और दूसरा सहायक। इस प्रसंग में शरीर आत्मा के लिए एक मकान है। इस मकान के प्रधान खंभे वात,पित्त और कफ हैं। आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य – ये तीन उपस्तंभ हैं। आहार से रस की उत्पत्ति, वातादि दोषों की उत्पत्ति और धातुओं का निर्माण होता है। आहार के अभाव में शरीर की स्थिति नहीं रह सकती। दूसरा स्थान स्वप्न का है। यदि प्राणी नियमित रूप से अपने सभी कार्य करते हुए यथाकाल उचित रूप में निद्रा का सेवन न करे, तो स्वास्थ्य की हानि तथा मृत्यु तक सम्भाव्य है, क्योंकि कार्य करने के बाद शारीरिक यंत्रों को विश्राम देने के लिए निद्रा की अत्यधिक आवश्यकता है। यंत्रों को विश्राम नहीं मिलता तो अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। तीसरे उपस्तंभ ब्रह्मचर्य का तात्पर्य शुक्र-रक्षा से है। इस प्रकार शरीर को प्रधान रूप से धारण

करने वाले वात, पित्त और कफ इन तीन प्रधान खंभों के लिए आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य इन तीन सहायक खंभों का वर्णन किया गया है।

रसायन का विधिवत् सेवन करने से पुरुष पूर्ण आयु का उपभोग करता है, उसकी स्मरण-शक्ति तथा मेधाशक्ति स्थिर रहती है। उसे उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है, वह अधिक समय तक तरुण बना रहता है। प्रभा, वर्ण, स्वर, उदारता, शारीरिक एवं इंद्रिय संबंधी पर्याप्त शक्ति, वाक्सिद्धि, विनयशीलता तथा कांति भी उसे प्राप्त होती है।

आधुनिक जीवन शैली ने व्यक्ति को विभिन्न रोगों का शिकार बना लिया है। संधिवात, मधुमेह, अर्श, विचर्चिका और अम्लपित्त आदि की समस्याओं ने उसे जकड़ लिया है। जीवन की भाग-दौड़, तनाव और विविध प्रकार के चर्म रोगों ने व्यक्ति के स्वास्थ्य पर बुरा असर डालना शुरू कर दिया है। इसके लिए हल्दी के महत्व को स्वीकार किया गया है। हल्दी या हरिद्रा कटु, तिक्तरस युक्त, रुक्ष, उष्णवीर्य कफ पित्त नाशक, शरीर के वर्ण को उज्ज्वल करने वाली, सुगंधित, रक्तशोधक है। मसाले के रूप में इसका नित्य व्यवहार होते हुए भी यह एक बहुत अच्छी औषधि है।

स्वास्थ्य मानव जीवन की आधारभूत जरूरत है। इसकी प्राप्ति हेतु शरीर में विविध तत्वों का संतुलन आवश्यक है। जहाँ यह संतुलन कम या अधिक हुआ, वहीं प्रकृति प्रदत्त पदार्थ अथवा शारीरिक-शुद्धि की प्रक्रियाएँ अपनाना आवश्यक है। इससे भी आगे जाकर चित्त को स्थिर रखने अथवा उसको अपने कारण में लय कर देने से भी रोगों से बचा जा सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में स्थित प्रज्ञ अवस्था का समाकलन श्रीमद्भगवद्गीता और चरक संहिता के आलोक में किया गया है।

आयुर्वेद में आरोग्यता के महत्व को स्वीकारा गया है। आरोग्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ का उत्तम (प्रधान) मूल है। इन पुरुषार्थों के प्रति समाज का आदर भाव होना आवश्यक है। हमें तो हितायु, सुखायु तथा दीर्घायु की कामना करनी है। अतः जिस शास्त्र में आयु, अहित आयु, सुख आयु तथा दुःख आयु का वर्णन हो, ऐसे शास्त्र 'आयुर्वेद' को अपनाना मानवता के लिए कल्याणकारी है।

'विज्ञान गरिमा सिंधु' के आयुर्वेद विशेषांक की परिकल्पना के लिए अध्यक्ष महोदय के प्रोत्साहन से इसे इस रूप में लाना सभंव हो पाया। इसके लिए मैं अध्यक्ष महोदय का आभारी हूँ। विषय-विशेषज्ञों ने समय पर अपने आलेख भेजकर पत्रिका की गरिमा में वृद्धि की है। मैं उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। आशा है, यह विशेषांक आयुर्वेद-प्रेमियों, छात्रों, शोधार्थियों, प्राध्यापकों के लिए

उपयोगी होगा। हिंदी माध्यम से आयुर्वेद का अध्ययन करने वाले पाठकों का प्रस्तुत विशेषांक से आयुर्वेद संबंधी मानक शब्दावली से भी परिचय होगा। इस विशेषांक के बारे में आपकी सम्मतियों की हमें प्रतीक्षा रहेगी।

भीमसेन बेहेरा

(डॉ. भीमसेन बेहेरा)

वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी (आयुर्विज्ञान)

विशेषांक संपादन एवं परामर्श समिति

प्रधान संपादक

प्रो. एम. पी. पुनिया

अध्यक्ष

संपादक

डॉ. भीमसेन बेहेरा

वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी (आयुर्विज्ञान)

प्रो. गुरुदीप सिंह निदेशक, पी. जी. स्टडीज एस.डी.एम. आयुर्वेद कॉलेज, हासन, कर्णाटक	**प्रो. अनिल कुमार सिंह भदौरिया** प्राचार्य एवं विभागाध्यक्ष विकृति विज्ञान एस.के.एस.आयुर्वेद मेडिकल कॉलेज, मथुरा. उ. प्र.
प्रो. प्रवीण कुमार चौधरी विभागाध्यक्ष चौधरी ब्रह्मप्रकाश चरक आयुर्वेद संस्थान खेड़ा डाबर, नजफगढ़, नई दिल्ली	**डॉ. राजेश छोकर** सह आचार्य, शालाक्य आयुर्वेद एवं यूनानी तिब्बिया कॉलेज, नई दिल्ली-5
डॉ. टी. दिवाकर राव सी.एम.ओ., सी.जी.एच.एस. नॉर्थ ऐवेन्यू, नई दिल्ली-1	**डॉ. भगवती प्रसाद निदारिया** उपनिदेशक (से.नि.) केंद्रीय हिंदी निदेशालय नई दिल्ली

विज्ञान गरिमा सिंधु

(हिंदी में वैज्ञानिक एवं तकनीकी लेखन की स्तरीय त्रैमासिकी)

आयुर्वेद विशेषांक

अंक जुलाई – सितंबर 2019 (ISSN : 2320-7736)

प्रधान संपादक
प्रो. एम. पी. पूनियां
(अध्यक्ष)

संपादक
डॉ. भीमसेन बेहेरा
वरिष्ठ वैज्ञानिक
अधिकारी (आयुर्विज्ञान)

प्रकाशन-मुद्रण व्यवस्था
डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल
सहायक निदेशक

(संपर्क सूत्र)
संपादक
विज्ञान गरिमा सिंधु
वैज्ञानिक तथा तकनीकी
शब्दावली आयोग
पश्चिमी खंड-7,
रामकृष्ण पुरम
नई दिल्ली- 110066

क्रम	विषय	लेखक	पृष्ठ
1	आयुर्वेद के सिद्धांत-एक विवेचन	प्रो. गुरदीप सिंह डॉ. मनदीप आर.जी.	1
2	आयुर्वेद में प्रमाण - शास्त्र	प्रो. संतोष एस.आर.नायर	10
3	देह प्रकृति - एक विवेचन	प्रो. रवि आर-गोयल	17
4	रसायन के ऊर्जस्कर प्रभाव	डॉ. मनदीप आर.जी.	23
5	संधिवात (Osteoarthritis) एवं उसका आयुर्वेद उपचार	डॉ. भीमसेन बेहेरा डॉ. मनदीप आर.जी.	30
6	आयुर्वेद परिप्रेक्ष्य में मनो-व्यापार	प्रो. गुरदीप सिंह, डॉ. मंजु अडिगा	36
7	सत्व एवं शरीर के अभिसंबंध का विश्लेषणात्मक अध्ययन	प्रो. प्रवीण कुमार चौधरी	43
8	श्रीमद्भगवतगीता में उद्धृत स्थित प्रज्ञ की विवेचना एवं चरक संहिता	डॉ. निशि अरोड़ा	48
9	निद्रा-आयुर्वेदीय विवेचन	डॉ. प्रियंका वी. बी. प्रो. गुरदीप सिंह	53
10	आयुर्वेद के विकास में आधुनिक विज्ञान एवं तकनीक का योगदान	डॉ. राजेश छोकर	58
11	व्यायाम के लाभ और हानि	प्रो. गिरीष के.जे. प्रो. रविकांत आर. गोयल	62
12	आयुर्वेद	डॉ. स्मिता दहिया	66
13	हरिद्रा द्वारा असाध्य व्याधियों की चिकित्सा	प्रो. अनिलकुमार सिंह भदौरिया डॉ. भीमसेन बेहेरा	68
14	पंचकर्म: एक व्यवस्थापक चिकित्सा	डॉ. पूजा रानी डॉ. सुवास साहु	76
15	मधुमेह रोगियों के लिए आहार	डॉ. टी. दिवाकर राव	85
16	अर्श में आयुर्वेदीय शल्य चिकित्सा	प्रो. चतुर्भुज भूयां	90
17	विचर्चिका निदान एवं चिकित्सा	डॉ. भीमसेन बेहेरा	93
18	अम्लपित्त (हाइपर-एसिडिटी) : एक आयुर्वेद विचार	डॉ. जयवंत वसंत खरात	101

आयुर्वेद के सिद्धांत एक विवेचन

प्रो. गुरदीप सिंह एवं
निदेशक, श्री धर्मस्थल मंजूनाथेश्वर आयुर्वेद कॉलेज,
हासन, कर्नाटक

डॉ. मनदीप आर. जी.
एसोसियेट प्रोफेसर आई पी जी टी एंड आर,
गुजरात आयुर्वेद यूनिवर्सिटी, जामनगर

विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा आयुर्वेद को मान्यता प्रदान करने के पश्चात विश्व में आयुर्वेद का प्रचार एवं प्रसार बहुत तेजी से बढ़ा है और कई पश्चिमी देशों में इसकी विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा भी प्रदान की जा रही है। परंतु विश्व स्वास्थ्य संगठन में आयुर्वेद को जो परंपरागत चिकित्सा के अंतर्गत वर्गीकृत किया गया है वह उचित नहीं है क्योंकि परंपरागत चिकित्सा किसी सिद्धांत पर निर्भर नहीं होती बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी उपचार के अनुभव का केवल परिसरण ही है। इस प्रकार परंपरागत चिकित्सा अनुभव से उत्पन्न हुआ औषधियों से कुछ रोगों के उपचार मात्र का ज्ञान है, उसके पीछे कोई सिद्धांत नहीं होता। परंतु आयुर्वेद सिद्धांतों के आधार पर वह एक संपूर्ण चिकित्सा शास्त्र है अतः उसे परंपरागत चिकित्सा प्रणाली कहना उचित नहीं है। इस बात को स्पष्ट तथा स्थापित करने के लिए निम्न तथ्यों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

सामान्य-विशेष सिद्धांतः आयुर्वेद की चिकित्सा का मुख्य सिद्धांत रोग के कारणों के विरोधी गुण वाले द्रव्यों का उपयोग हैं, इसके लिए वैशेषिक दर्शन के सामान्य विशेष सिद्धांत को अपनाया गया है। जिसके अनुसार सामान्य गुणों के उपयोग से शरीर में उन गुणों की वृद्धि होती है और विशेष (विपरीत) गुणों के उपयोग से ह्रास होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई रोग शीत के कारण हुआ है तो उसकी चिकित्सा उष्ण गुण वाले द्रव्यों से की जाती है। इसके विपरीत उष्ण के कारण उत्पन्न हुए रोग की चिकित्सा शीत गुण वाले द्रव्यों से की जाती है। दूसरी ओर यदि शरीर में किसी पोषक तत्व की कमी हो जाए तो उस कमी को दूर करने के लिए समान या उस पोषक तत्व के समान गुण वाले द्रव्यों का उपयोग किया जाता है, जैसे कि यदि शरीर में स्निग्धता कम हो जाए तो स्निग्ध पदार्थों का उपयोग करने का निर्देश है। दूसरी ओर यदि स्निग्धता बढ़ जाए जैसे कि स्थूल व्यक्तियों में तो उसके विपरीत रुक्ष गुण वाले द्रव्य दिए जाते हैं।

पंच महाभूत सिद्धांत : पंच महाभूत के सिद्धांत को सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकारा है और आयुर्वेद ने भी इसे अपनाया है। इस सिद्धांत के अनुसार ब्रह्मांड के सभी पदार्थ पाँच महाभूतों से बने हैं। ये पंच महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी हैं। इन पाँच महाभूतों को आयुर्वेद में द्रव्य माना गया है क्योंकि इनमें गुण एवं कर्म दोनों समवाय संबंध से रहते हैं। आयुर्वेद में इस सिद्धांत के अनुसार सभी आहारादि एवं औषध द्रव्यों का उनके पंचभौतिक संगठन के अनुसार वर्गीकरण किया गया है तथा तदनुसार उनके निदान में ज्ञान कर उनके विपरीत गुणों वाले द्रव्यों से चिकित्सा निर्धारित की जाती है। आयुर्वेद में द्रव्यों का आकाशीय द्रव्य, वायवीय द्रव्य, तेजसीय द्रव्य आदि के अनुसार वर्गीकरण मिलता है।

द्रव्य सिद्धांत : दर्शन शास्त्रों की द्रव्य की परिभाषा को आयुर्वेद ने अपनाया है, जिसके अनुसार जिसमें भी गुण एवं कर्म दोनों समवायि संबंध से उपस्थित हों उसे द्रव्य कहते हैं। इस परिभाषा के आधार पर आयुर्वेद ने नौ कारण द्रव्यों का उल्लेख किया है। ये नौ द्रव्य पाँच महाभूत, आत्मा, मन, काल एवं दिशा हैं। इनमें से पाँच महाभूतों को द्रव्य मानने के कारण का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। शेष चार का भी द्रव्यत्व निम्न उदाहरणों से सिद्ध हो जाता है।

आत्मा का गुण चेतन है एवं मन को चेतना प्रदान करना उसका कर्म है अतः आत्मा भी भारतीय दर्शनों एवं आयुर्वेद के अनुसार द्रव्य है।

अणु एवं एकत्व मन के गुण हैं एवं उह्य, विचार, इंद्रियों पर नियंत्रण आदि उसके कर्म हैं अतः उसे भी द्रव्य माना गया है।

काल (environment) रोगों के उत्पन्न होने और उनके शमन होने में कारण होता है। आयुर्वेद ने भारत के एक वर्ष के काल को छह ऋतुओं में विभाजित कर प्रत्येक ऋतु के गुण एवं कर्म विस्तार से निर्धारित किए हैं तथा प्रत्येक ऋतु में होने वाले रोगों और उनके शमन के उपायों का विस्तार से वर्णन किया है, अतः काल भी द्रव्य है। दिशा जैसे उत्तर, दक्षिण आदि। सूर्य के उत्तरायण या दक्षिणायण होने पर पृथ्वी पर परिवर्तन होते हैं तथा चुंबक के उत्तरः-दक्षिण ध्रुवों के गुण एवं कर्म विख्यात हैं, अतः दिशा भी द्रव्य है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार मैटर (matter) वह है जिसका कि आयतन एवं भार हो, अतः मैटर की परिभाषा, आयुर्वेद की द्रव्य की परिभाषा से भिन्न है, अतः द्रव्य का अनुवाद मैटर नहीं करना चाहिए और आत्मादि को द्रव्य मानने का तर्क द्रव्य की परिभाषा के अनुसार देना चाहिए।

गुण-कर्म सिद्धांत : आधुनिक समय में औषध द्रव्यों के कर्म उनमें उपस्थित केमिकल्स के आधार पर निर्धारित किए जाते हैं। परंतु हजारों साल पहले केमिकल विश्लेषण की सुविधा नहीं थी अतः आयुर्वेद ने दर्शन शास्त्रों के गुण-कर्म के सिद्धांत को अपनाकर उसको अपने शास्त्र के अनुसार विकसित किया। इनमें से बीस गुरवादि गुण प्रमुख हैं जो कि युग्म में हैं। यथा लघु-गुरु, मंद-तीक्ष्ण, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रुक्ष, श्लक्ष्ण-खर, सांद्र-द्रव, मृदु-कठिन, स्थिर-सर, सूक्ष्म-स्थूल एवं विषद-पिच्छिल। प्रत्येक के घटक एक-दूसरे के विपरीत गुण एवं कर्म रखते हैं। इन गुणों का पंचभौतिक विश्लेषण किया गया है तथा उसके अनुसार उनके द्वारा किए जाने वाले कर्मों का निर्धारण किया गया है। प्रत्येक आहारादि हेतु एवं औषध द्रव्यों के गुण निर्धारित किए गए हैं तथा उन गुणों के आधार पर हेतुओं के विपरीत गुण रखने वाले औषध द्रव्यों का इस रोग की चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है।

गुण एवं कर्म द्रव्य में समवायिसंबंध में रहते हैं और स्वतंत्र रूप से नहीं मिलते। गुण एवं कर्म में यह अंतर है कि गुण का सेवन समान गुणों की वृद्धि करता है और विरोधी गुणों का ह्रास करता है, अतः गुण को निश्चेष्ट कहा गया है। परंतु कर्म में संयोग एवं विभाग के द्वारा नए द्रव्य का निर्माण होता है और उसमें प्रयुक्त गुणों का नाश होता है। इस प्रकार द्रव्यों का कर्म उनमें उपस्थित गुणों पर निर्भर करता है, इसलिए सभी आहार, विहार, काल, औषध आदि के गुण निश्चित किए गए हैं तदनुसार उनका निदान विनिश्चय में विचार करके उसके अनुसार इन गुणों के विपरीत गुण वाली औषधियों का प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है।

कार्य-कारण सिद्धांत : आयुर्वेद में अनुमान प्रमाण माना गया है परंतु वह आम भाषा वाला अनुमान नहीं है। क्योंकि किसी भी तथ्य को अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत लाने के पहले उसे कार्य कारण सिद्धांत है, सिद्ध किया जाता है तत्पश्चात उसका प्रमाण के रूप में उपयोग किया जाता है, उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से पहले यह सिद्ध किया गया है कि धुआँ आग के बिना नहीं होता, अतः जहाँ जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग होती है। यह अनुमान प्रमाण है। परंतु आग धुएँ के बिना भी होती है अतः जहाँ आग है वहाँ वहाँ धुआँ होगा यह प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार गर्भवती को देखकर उसके

यौनसंबंध का होना अनुमान प्रमाण है, परंतु गर्भ की अनुपस्थिति का यौन संबंध न होना प्रमाण नहीं है। इस प्रकार सभी कारणों की कार्यकारण सिद्धांत से कार्य के साथ कारण की सिद्धि करके तत्पश्चात उनका विचार निदान विनिश्चय में किया जाता है एवं तदनुसार चिकित्सा निर्धारित की जाती है।

त्रिदोष सिद्धांत : निर्जीव एवं सजीव दोनों पर बराबर रूप से पंच महाभूत सिद्धांत लागू होता है परंतु आयुर्वेद केवल जीव (आयु) से सम्बन्धित है अत: आयुर्वेद ने पंच महाभूत पर आधारित जीव प्राणियों के लिए त्रिदोष सिद्धांत बनाया। तीन दोष वात, पित्त और कफ हैं। इनमें से वात दोष, आकाश और वायु महाभूत से बना है तथा तीनों में प्रमुख हैं क्योंकि यह शरीर की सभी प्रकार की गतियों का संचालन और नियंत्रण करता है। पित्त पाचन एवं सभी प्रकार के चय अपचय का उत्तरदायी है। कफ सभी जीव उत्तकों के निर्माण एवं रख-रखाव का उत्तरदायी है। इन तीनों दोषों के गुण धर्म निश्चित किए गए हैं तथा इनकी समान गुण वाले द्रव्यों के सेवन से वृद्धि होती है तथा विरोधी गुणों के सेवन से इनका ह्रास होता है।

षट्-क्रियाकाल सिद्धांत : दोष अपने हेतुओं की मात्रा के अनुसार रोग को क्रमश: छह अवस्थाओं में उत्पन्न करता है। सर्वप्रथम हेतुओं के सेवन से संबंधित दोष का संचय होता है। इस अवस्था में केवल हेतु के विवर्जन या हेतु विपरीत सेवन से ही यह अवस्था समाप्त हो जाती है इसे प्रथम क्रियाकाल कहा जाता है। जैसे शीत से उत्पन्न हुए रोग के रुग्ण को तुरंत यदि उष्ण वातावरण में रख दें तो वह आगे न बढ़कर वहीं ठीक हो जाता है।

यदि निदान सेवन जारी रहा और उपरोक्त प्रथम अवस्था में कोई प्रतिकार नहीं किया गया तो दोष का प्रकोप हो जाता है। इस अवस्था में केवल दोष शामक औषध के सेवन से स्वस्थावस्था प्राप्त हो जाती है, इसे द्वितीय क्रियाकाल कहा जाता है।

यदि द्वितीय क्रियाकाल में कोई प्रतिकार नहीं किया जाए और हेतुओं का सेवन चलता है तो दोष प्रसारावस्था में पहुँच जाते हैं, यह तृतीय क्रियाकाल है।

यदि फिर भी कोई प्रतिकार न किया जाए तो दोष प्रसरित होकर जिस स्रोतस में विकार हो वहाँ जाकर दूष्य के साथ समूर्च्छन करके रोग का प्रारंभ करते हैं तथा इस अवस्था में पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं, यह चतुर्थ क्रियाकाल है तथा इस अवस्था में रोग सुख साध्य होता है।

यदि फिर भी कोई प्रतिकार न किया जाए तो दोष रोग के लक्षणों को स्पष्ट रूप से उत्पन्न करता है तथा यह पंचम क्रियाकाल है। इस अवस्था में रोग हेतुओं की तीव्रता के अनुसार सुख या कष्ट साध्य होता है। यदि फिर भी कोई प्रतिकार न किया जाए तो रोग के उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं और रोग याप्य या असाध्य है। जाता है यह रोग का षट्-क्रियाकाल है।

स्वस्थ के लिए दिन एवं ऋतुचर्या का विधान : स्वस्थ के स्वास्थ्य रक्षण हेतु दिन एवं ऋतुचर्या का वर्णन किया गया है। जिसके नियमों पर चलने से ऋतु विशेष में होने वाले रोग नहीं होते।

प्रकृति का सिद्धांत : सभी मनुष्यों की मानसिक और शारीरिक प्रकृति निर्धारित की जाती है ताकि उसके अनुसार उस व्यक्ति को पता रहे कि उसको कौन से रोग होने की अधिक संभावना है तथा वह किस प्रकार के आहार-विहार का अनुसरण करे ताकि उसको वह रोग न हो। इस सिद्धांत की विश्व में बहुत सराहना की जा रही है और आधुनिक आयुर्विज्ञान उसे अपनाने के प्रयास में है।

अष्ट-आहा-विधि विशेष आयतन का सिद्धांतः भोजन एवं आहार द्रव्यों के आठ बिंदुओं का विचार करने का निर्देश है। इनमें से पहला है आहार द्रव्य की प्रकृति जैसे यह लघु है या गुरु है। करण (प्रक्रिया) से द्रव्य के गुणों में परिवर्तन किया जाता है जैसे दधि गुरु है पर आलोडन क्रिया में प्राप्त तक्र लघु है। इसी प्रकार द्रव्य आमतौर पर उष्ण या शीत द्रव्य के संयोग से वह क्रमशः शीत या उष्ण बन जाता है। द्रव्य की राशि के अनुसार भी उसके गुण धर्म बदल जाते हैं जैसे गुरु द्रव्य भी यदि अल्प राशि में खाया जाए तो वह लघु की तरह कार्य करता है, दूसरी ओर यदि लघु द्रव्य भी अधिक मात्रा में खाया जाए तो वह गुरु की तरह कार्य करता है।

देश के अनुसार भी द्रव्यों के गुण - धर्म परिवर्तित हो जाते हैं। आनूप देश में उष्ण द्रव्य अधिक उष्ण हो जाते हैं।

रसायन का सिद्धांत : वैदिक काल से ही इस बात के प्रयास हो रहे थे कि ऐसी औषधियों को खोजा जाए जो कि वय का स्थापन करें, जरावस्था को रोकें एवं दीर्घायु तथा स्वस्थावस्था आदि प्रदान करें। आयुर्वेद ने ना केवल ऐसे द्रव्यों को खोजा बल्कि रसायन नाम के विशिष्ट अंग का भी आविष्कार किया। रसायन द्रव्यों के सेवन से उत्तम प्रकार की शारीरिक धातुओं का निर्माण होता है जिससे उसकी

रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ जाती है। समय पर रसायन औषधियों के सेवन से वृद्धावस्था देर से आती है तथा दीर्घायु भी प्राप्त होती है।

वाजीकरण सिद्धांत : मानव शृंखला बनी रहे इसके लिए प्रकृति ने प्रजनन प्रक्रिया बनाई है। उत्पन्न बालक स्वस्थ एवं दीर्घायु बने इस हेतु आयुर्वेद ने वाजीकरण नाम का एक विशेष अंग विकसित किया है। वाजीकरण औषधियों के सेवन से यौनशक्ति बढ़ती है तथा उत्तम संतान पैदा होती है। शुद्ध शुक्र एवं आर्तव की पहचान की गई तथा उनमें होने वाले विकारों को निश्चित करके उनकी चिकित्सा भी निश्चित की गई है।

काय चिकित्सा : काय चिकित्सा आयुर्वेद का मुख्य अंग है, इसमें पाँच सौ से अधिक रोगों का उनके निदान एवं चिकित्सा सहित संक्षेप या विस्तार से वर्णन किया गया है। भविष्य में होने वाले नए रोगों का निदान तथा चिकित्सा कैसे निर्धारित की जाए इसका निर्देश भी दिया गया है।

कौमार्यभृत्य : बालक एवं युवा व्यक्ति बहुत से बिंदुओं में भिन्न होते हैं। बालकों का शरीर नाजुक होता है, कुछ अवस्था तक वो बोल नहीं पाते तथा अपनी व्यथा का ठीक प्रकार से वर्णन भी नहीं कर पाते इसके लिए उनके स्वास्थ्य के लिए एक अलग चिकित्सक की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए अष्टांग आयुर्वेद में एक कौमारभृत्य नामक अंग रखा गया है।

शल्यतंत्र : बहुत से ऐसे रोग हैं जो कि केवल औषध साध्य नहीं हैं उनकी चिकित्सा में शल्य कर्म आवश्यक है। इसलिए एक अंग शाल्यतंत्र भी विकसित किया गया। भगवान धन्वंतरि के शिष्य सुश्रुत ने कई प्रकार के शल्यकर्म विकसित किए जिनमें प्लास्टिक सर्जरी का भी समावेश है। आयुर्वेद के क्षारसूत्र जिसके द्वारा अर्श और भगंदर की चिकित्सा होती है को कई देशों के आधुनिक चिकित्सकों ने अपनाया है। भगंदर जो आधुनिक सर्जरी करने के पश्चात भी फिर से हो जाता है उसका सफल इलाज़ क्षारसूत्र में किया जा रहा है।

अगद तंत्र : प्राचीन समय से ही जंगम, जीव एवं पार्थिव विष मनुष्य जाति के लिए बहुत बड़ा खतरा रहे हैं। अतः इनके निवारण के लिए अगद क्षेत्र नाम का अंग आयुर्वेद में विकसित किया गया। इसमें विविध विषज़ प्राणियों एवं जंगम और पार्थिव विषों की पहचान की गई है तथा उनकी चिकित्सा निश्चित की गई है।

भूत विद्या : मानसिक रोग के निदान एवं चिकित्सा का निर्देश भूत विद्या तंत्र के अन्तर्गत किया गया है। इस बात का स्पष्ट निर्देश किया गया है कि भूत, देव, राक्षस आदि मनुष्य के शरीर में प्रवेश नहीं करते अपितु यह ऐसा ही है कि जैसे हम दर्पण में अपना प्रतिबिंब देखते हैं परंतु उसके अंदर प्रवेशित नहीं होते।

शालाक्य तंत्र : शिर में प्राण रहते हैं तथा आँख, कान, नाक, रसना आदि इंद्रियाँ भी रहती हैं अतः जत्रु से ऊपर स्थित अंगों के रोगों के निदान एवं चिकित्सा के लिए एक विशिष्ट अंग शालाक्य तंत्र विकसित किया गया। इसके अंर्तगत आँख, कान, नाक, मुख, शिर आदि के रोगों के निदान एवं चिकित्सा का समावेश किया गया। इन अंगों में यदि शल्य साध्य रोग हों तो उनकी शल्य चिकित्सा का भी प्रावधान है।

आयुर्वेद इतना तर्क संगत है कि संहिताओं में अध्यायों के क्रम का भी औचित्य बताया गया है। अतः सभी सिद्धांतों का उल्लेख यहाँ पर विस्तार भय से संभव नहीं है। परंतु उपरोक्त उल्लिखित सिद्धांतों से स्पष्ट हो जाता है कि आयुर्वेद एक वैज्ञानिक विचारधारा पर आधारित संपूर्ण चिकित्सा शास्त्र है न कि एक परंपरागत चिकित्सा प्रणाली।

काल के अनुसार भी द्रव्यों के गुण धर्म परिवर्तित होते हैं जैसे उष्ण द्रव्य बसंत ऋतु में हितकारी परंतु ग्रीष्म ऋतु में अहितकारी होते हैं।

उपयोग संस्था : भोजन करने के उचित एवं अनुचित नियमों का वर्णन किया गया है। भोजन एकांत में, न बहुत धीरे-धीरे, न हीं जल्दी-जल्दी करना चाहिए। भोजन करते समय बोलना नहीं चाहिए। प्रथम किए हुए भोजन के पाचन के बाद ही दूसरा भोजन करना चाहिए। किए गए भोजन के पचने से पहले भोजन करने को अध्यशन कहते हैं और यह आम तथा कई रोगों का कारण होता है अतः अध्यशन कभी भी नहीं करना चाहिए।

आम का सिद्धांत : अध्यशन आदि के कारणों से अथवा अग्नि की दुर्बलता से अपक्व आहारादि का शरीर में शोषण हो जाता है इसे आम कहते हैं, यह बहुत से रोगों का कारण है। इसलिए आयुर्वेद रोग की चिकित्सा में प्रथम आम पाचन को बहुत महत्त्व देता है।

योगवाही सिद्धांत : आयुर्वेद ने ऐसे द्रव्यों को खोज निकाला है जिनका कि किसी दूसरे द्रव्य के साथ प्रयोग करने से वह उनके गुणों की वृद्धि कर देता है, जैसे कि मधु योगवाही है।

भावना का सिद्धांत : कतिपय द्रव्यों को अब उसके स्वरस के साथ मर्दन किया जाता है तो उसके गुणों में बहुत वृद्धि हो जाती है, इस क्रिया को भावना कहते हैं। यथा आमलकी रसायन।

लौह धातुओं के शोधन एवं मारण का सिद्धांत : दसवीं शताब्दी से आयुर्वेद में धातु का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा। धातुओं के खनिजों में कई प्रकार की विषाक्त मिलावट रहती है जो कि शरीर के लिए हानिकारक होती है। इसलिए उन दोषों के निवारणार्थ खनिजों के शोधन की प्रक्रिया का वार किया गया तथा उनका शरीर में शोषण हो सके इसके लिए प्रत्येक द्रव्य के मारण की प्रक्रिया का निर्माण किया गया ताकि उनका औषध के रूप में प्रयोग किया जा सके तथा उनमें किसी प्रकार का हानिकारक प्रभाव न हो।

चिकित्सा सिद्धांत: आयुर्वेद का प्रथम सिद्धांत है कि जिन कारणों से रोग उत्पन्न हुआ है उनका सेवन तुरंत बंद कर देना चाहिए, इसे हेतु परिवर्जन कहते हैं। यदि दोष कुपित हैं तो उनका शमन करना चाहिए, यदि दोष बढ़े हैं तो उनका ह्रास करना चाहिए तथा यदि बहुत बढ़े हैं तो उनका निर्हरण करना चाहिए। इस प्रकार कारणों के विपरीत चिकित्सा करने का विधान है, इसे हेतु विपरीत चिकित्सा कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि रोग संतर्पण कारणों से उत्पन्न हुआ है तो उसकी चिकित्सा में अपतर्पण द्रव्यों का विधान है।

षडुपक्रम का सिद्धांत : सभी प्रकार की चिकित्साओं को छह भागों में वर्गीकृत किया गया है यथा या लंघन बृंहण, स्नेहन-रुक्ष्ण एवं स्वेदन-स्तंभन। ये तीनों द्वंद एक-दूसरे के विरोधी हैं। संक्षेप में इन छह को दो में विभाजित किया गया है यथा अपतर्पण एवं संतर्पण। अपतर्पण के अंतर्गत लंघन, स्वेदन एवं रुक्षण को रखा गया तथा संतर्पण के अंतर्गत बृंहण, स्नेहन एवं स्तंभन का समावेश किया गया है। संतर्पण से उत्पन्न रोगों की चिकित्सा अपतर्पण है तथा इसके विपरीत अपतर्पणोत्य रोगों की चिकित्सा संतर्पण हैं।

शोधन का सिद्धांत : व्यक्ति जो भोजन करता है तथा उसका शरीर में जो चय अपचय होता है उससे धातुओं एवं मलों का निर्माण होता हैं, मन शरीर के किसी काम नहीं आते अपितु हानि पहुँचाते हैं।

अतः उनका शरीर के नौ बाह्य द्वारों से निष्कासन हो जाता है परंतु इसके अतिरिक्त भी कुछ सूक्ष्म मलों का शरीर में संचय होता रहता है और वे आगे चलकर रोग उत्पन्न कर सकते हैं अतः उनका निष्कासन आवश्यक है। इसके लिए आयुर्वेद में पंचकर्म द्वारा इन मलों को सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतस से भी बाहर निकालने का प्रावधान किया गया है जिसे शोधन चिकित्सा कहते हैं। पंचकर्म आयुर्वेद की मलों को बाहर निकालने की सबसे प्रभावकारी चिकित्सा है। ये पंचकर्म वमन, विरेचन, अनुवासन बस्ति, निरुह बस्ति एवं नस्य हैं। वमन कर्म कफ को, विरेचन कर्म पित्त को, दोनों प्रकार की बस्तियाँ वात का निर्हरण करती हैं तथा नस्य जत्रु के ऊपर संचित दोषों का निर्हरण करता है।

सर्दी की दो ऋतुओं हेमंत एवं शिशिर में संचित कफ का बसंत ऋतु में प्रकोप होता है तथा कफ के रोग होते हैं, अतः ऋतुचर्या में बसंत ऋतु के ठीक पहले कफ के निर्हरण करने का विधान है ताकि कफ रोगों के उत्पन्न होने को रोका जा सके। इसी प्रकार शरद ऋतु के पहले विरेचन द्वारा पित्त का निर्हरण या वर्षा ऋतु में बस्ति द्वारा वात के निर्हरण का प्रावधान है ताकि संबंधित रोगों को उत्पन्न होने से रोका जा सके।

आयुर्वेद में प्रमाण-शास्त्र

प्रो. संतोष एस. आर. नायर,
आचार्य एवं विभागाध्यक्ष
संहिता-सिद्धांत विभाग, चौधरी ब्रह्म प्रकाश आयुर्वेद चरक संस्थान, नई दिल्ली

ज्ञान क्या है? ज्ञान का स्वरूप क्या है? यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए क्या साधन निर्दिष्ट किए गए हैं? यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में क्या बाधाएँ होती हैं? इस प्रकार के सभी तथ्यों के दार्शनिक अध्ययन को प्रमाण-शास्त्र कहते हैं। सभी भारतीय दर्शनों में प्रमाण-शास्त्र को महत्व दिया गया है। भारतीय दर्शनों में प्रमाण के अध्ययन में सबसे अधिक महत्व देने वाला दर्शन है न्याय दर्शन। अतः न्याय दर्शन को तर्क शास्त्र भी कहा गया है।

यथार्थ-ज्ञान से तात्पर्य है विषय अथवा वस्तु को उसके वास्तविक स्वरूप में ही देखना तथा समझना। यथार्थ-ज्ञान को प्रमा कहा जाता है। प्रमा प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त साधन अथवा माध्यम को प्रमाण कहा जाता है। विभिन्न भारतीय दार्शनिकों ने अपने अन्वेषणों तथा सिद्धांतों के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रमाणों को प्रस्तुत किया। उनमें से दस प्रमाण प्रमुख हैं; प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिह्य, चेष्टा एवं परिशेष। विभिन्न भारतीय दर्शनों के द्वारा स्वीकृत प्रमाणों को निम्न तालिका में सारणी बद्ध किया गया है।

क्र.सं.	दर्शन	प्रमाण
1	चार्वाक	प्रत्यक्ष
2	वैशेषिक, बौद्ध, जैन	प्रत्यक्ष, अनुमान
3	सांख्य	प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश
4	न्याय	प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश, उपमान
5	प्रभाकरमीमांसा	प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश, उपमान, अर्थापत्ति
6	भट्टमीमांसा, वेदांत	प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव,
7	पौराणिक	प्रत्यक्ष,अनुमान,आप्तोपदेश, उपमा, अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिह्य
8	तांत्रिक	प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, संभव, ऐतिह्य, चेष्टा एवं परिशेष

आयुर्वेद विश्व की प्राचीनतम चिकित्सा पद्धतियों में से एक है। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता एवं अष्टांग हृदय आयुर्वेद के आधार ग्रंथ हैं, जिनको सामुदायिक रूप से 'बृहत्त्रयी' के नाम से जाना जाता है। इनमें से दार्शनिक विषयों का सर्वाधिक उल्लेख एवं प्रयोग चरक संहिता में किया गया है। चरक संहिता में लगभग सभी समकालीन दर्शनों के सिद्धांत यथावश्यक स्वरूप में उपलब्ध हैं। भारतीय दर्शन के कुछ विद्वान, चरक संहिता के दर्शन को अन्य भारतीय दर्शनों से भिन्न एक मूल दर्शन के रूप में भी स्वीकार करते हैं।

आयुर्वेद एक वैज्ञानिक पद्धति होने के कारण प्रमाणों का विशेष महत्व एवं प्रायोजन है। चरक संहिता में प्रमाणों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। 'युक्ति' को एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में मान्यता देने वाला दार्शनिक केवल आचार्य चरक है। सुश्रुत संहिता में चार प्रमाणों का केवल नामतः उल्लेख है; परंतु अन्य किसी भी प्रकार का विवरण उपलब्ध नहीं है।

प्रस्तुत लेख में चरक संहिता में वर्णित प्रमाणों का विश्लेषण किया गया है।

परीक्षा शब्द

भारतीय दर्शन के वांगमय में यथार्थ ज्ञान अथवा प्रमा प्राप्त करने के माध्यम को प्रमाण शब्द से संबोधित किया गया है। इस अर्थ में यह स्पष्ट है कि ज्ञान, विज्ञान, शास्त्र अथवा दर्शन को समझने तथा समझाने के मार्ग को प्रमाण कहते हैं। इस संदर्भ मे 'प्रमाण शब्द प्रमापरक प्रतीत होता है, अर्थात प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान को प्रमुख स्थान दिया गया है।"**प्रमाकरणप्रमाणम्।**

आयुर्वेद में, विशेषतः चरक संहिता में, प्रमाण के स्थान पर 'परीक्षा' शब्द प्रयुक्त हुआ हैं। इस शब्द की परिभाषा करते हुए चरक संहिता के विख्यात टीकाकार चक्रपाणि व्याख्या करते है कि, "जिसके द्वारा तत्वों को अध्ययन करके व्यवस्थापित किया जाता है, उसको परीक्षा कहते हैं!

"परीक्ष्यते व्यवस्थाप्यते वस्तुस्वरूपमनयेती परीक्षा प्रमाणानि।[ii] "

प्रमाण एवं परीक्षा शब्दों की उपर्युक्त परिभाषाओं से विदित होता है कि 'प्रमाण' शब्द प्रमा को प्रमुखता देता है जबकि 'परीक्षा' शब्द प्रमा के स्थान पर उनकी प्राप्ति की विधि अथवा मार्ग को महत्त्व देता है।

प्रायोगिक-शास्त्र होने के कारण, आयुर्वेद में, प्रमाण के लिए 'परीक्षा' शब्द अधिक उचित प्रतीत होता है।

आचार्य चरक के द्वारा प्रमाण के लिए 'परीक्षा' शब्द के अतिरिक्त 'ज्ञानम'[iii] एवं 'जिज्ञासा" शब्द भी पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

परीक्षा का प्रायोजन

भारतीय दर्शनशास्त्रों में प्रमाणों का वर्णन तत्व-व्यवच्छेदन के लिए किया है। तत्व व्यवच्छेदन का अभिप्राय है विभिन्न तत्व अथवा घटक उपादानों अथवा निर्मापक संघटकों का पृथक–पृथक विशद विवरण अथवा वर्णन। उनके अनुसार प्रमाणों के द्वारा तत्वों के यथार्थ ज्ञान को ग्रहण किया जाता है। तत्व ज्ञान से ही निश्रेयस एवं मोक्ष की उपलब्धि संभव है। अत: प्रमाणों का ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का उपाय बताया गया है।

vi आयुर्वेद एक चिकित्सा शास्त्र होने के कारण उसका प्रथम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति नहीं है; जब कि मानव के स्वास्थ्य का संरक्षण एवं आतुर के विकारों का प्रशमन करना है। इसलिए चरक ने परीक्षा का प्रायोजन 'प्रतिपत्तिज्ञान' बताया।[v] उनके अनुसार उत्तम गुरु[vi] और उत्तम वैद्य[vii] दोनों के लिए प्रतिपत्तिज्ञान होना आवश्यक है। एक चिकित्सक को रोगी के विकार को प्रथम समझना चाहिए तत्पश्चात रोग प्रशमन के लिए उचित चिकित्सा प्रारंभ करनी चाहिए। रोगों को सम्यक रूप से जानकर उचित चिकित्सा प्रारंभ करने को ही प्रतिपत्ति कहते हैं।[viii] [ix] इसलिए वैद्य को चिकित्सा की सफलता के लिए प्रतिपत्तिज्ञ होना अनिवार्य है।

इसके अलावा, रोग उत्पन्न न हो एवं यदि कोई रोग उत्पन्न हुआ हो तो उसके शमन के लिए भी व्यक्ति को प्रतिपत्ति का ज्ञान होने का उपदेश दिया गया है।[x] इस संदर्भ मेंप्रतिपत्ति ज्ञान से तात्पर्य है, उपदेश किए गए विषय को सम्यक रूप से समझना।[xi] अर्थात आयुर्वेद शास्त्र में दिए गए निर्देशों को सही रूप से समझकर उनका पालन करने से व्यक्ति नीरोगी रह सकता है तथा आतुरावस्था में रोग का शमन किया जा सकता है।

उपर्युक्त निर्देश से विदित है कि सभी व्यक्तियों के लिए, विशेष रूप से योग्य वैद्य एवं गुरु के लिए, प्रतिपत्तिज्ञान आवश्यक है तथा प्रतिपत्तिज्ञान परीक्षा से ही संभव है।

परीक्षा की संख्या

सुश्रुत संहिता में केवल चार परीक्षाओं का नामत: उल्लेख है। लेकिन इन्हीं परीक्षाओं के बारे में अन्य किसी भी प्रकार का वर्णन इस ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है। आचार्य सुश्रुत द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश एवं उपमान को परीक्षा के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।

परीक्षा का विशद वर्णन चरक संहिता में उपलब्ध है। आचार्य चरक ने विभिन्न संदर्भों में परिस्थिति की आवश्यकतानुसार पृथक-पृथक परीक्षाओं का वर्णन किया है। विश्व में दो प्रकार के तत्त्व हैं; सत एवं असत, अथवा भाव तत्त्व एवं अभाव तत्त्व। इन दो प्रकार के तत्त्वों को समझने के लिए चतुर्विध परीक्षा का उल्लेख किया है। आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं युक्ति चतुर्विध परीक्षा के अंतर्गत आते हैं।[xii] इस प्रसंग में युक्ति को एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में समाहित एवं स्वीकृत किया गया है।[xiii] चिकित्सक के द्वारा रोग निदान के उपरांत चिकित्सा का प्रारंभ युक्ति परीक्षा के आधार पर ही संभव है। इस कारण से चरकाचार्य युक्ति को एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में अधिकृत करते हैं। यह प्रमाण शास्त्र के क्षेत्र में चरक का एक मौलिक चिंतन एवं महत्वपूर्ण योगदान है।

आयुर्वेद एक चिकित्सा पद्धति होने के कारण, चिकित्सक को रोगों का ज्ञान होना अनिवार्य है। अत: रोगों के संबंध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए त्रिविध परीक्षा निर्दिष्ट है। विविध परीक्षा के अंतर्गत आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष एवं अनुमान को माना गया है।[xiv] इन तीन परीक्षाओं से रोग की जानकारी प्राप्त करने के उपरांत ही वैद्य चिकित्सा प्रारंभ कर सकते हैं।

इस संदर्भ में आचार्य चरक का कथन है कि विद्वान चिकित्सक के लिए द्विविध परीक्षा ही पर्याप्त है; प्रत्यक्ष एवं अनुमान।[xv] [xvi] " चिकित्सक यदि विद्वान हो तो भी 'उपदेश' सहित द्विविध परीक्षा अनिवार्य है। इस संदर्भ में आतुर वचन को ही उपदेश के रूप में स्वीकार किया है। [xvii]क्योंकि वैद्य रोगी के वचन को ही आधार मानकर, प्रत्यक्ष एवं अनुमान के द्वारा परीक्षण करके रोग का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

आचार्य चरक के अनुसार ज्ञानार्जन के लिए, तीन उपाय हैं - अध्ययन, अध्यापन एवं तदविद्यसंभाषा। [xviii] उनके द्वारा, संभाषा का विस्तृत निरूपण करते समय चौवालीस संज्ञाओं का सोदाहरण वर्णन किया गया है। संभाषा अथवा वाद को सही रूप से समझने के लिए ही इन चौवालीस

संज्ञाओं का वर्णन हुआ है। इस प्रसंग में प्रत्यक्ष, अनुमान, ऐतिह्य, औपम्य, अर्थ प्राप्ति एवं संभव का भी वर्णन उपलब्ध है।[xix] परंतु औपम्य, अर्थ प्राप्ति एवं संभव को परीक्षा के रूप में मान्यता नहीं दी गई है। ऐतिह्य को स्वतंत्र प्रमाण का स्तर देते हुए आप्तोपदेश के एक प्रकार के रूप में माना गया। ब्रह्मा आदि परम आप्तों के द्वारा दिए हुए वेद आदि उपदेश को ही ऐतिह्य माना है।[xx]

आचार्य चरक ने, आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं युक्ति को स्वतंत्र प्रमाण मानकर इन चारों का विस्तार से निरूपण किया है। इन परीक्षाओं के द्वारा चिकित्सक को किन-किन भावों का परीक्षण करना है उनका भी विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है।[xxi]

निष्कर्ष

आयुर्वेद में, प्रायः, प्रमाण के लिए परीक्षा शब्द प्रयुक्त हुआ है। चिकित्सा की सफलता के लिए प्रतिपत्तिज्ञान अनिवार्य है। परीक्षा से ही प्रतिपत्तिज्ञान संभव है। आयुर्वेद के आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रायोजनों की दृष्टि से विभिन्न संदर्भो में अलग-अलग परीक्षाओं का उल्लेख किया है। इस कारण से चरक संहिता में द्विविध, त्रिविध एवं चतुर्विध परीक्षाओं का वर्णन उपलब्ध है। आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष, अनुमान, युक्ति एवं उपमान को प्रमाण के रूप में प्रतिग्रहीत किया गया है। ऐतिह्य को आप्तोपदेश का एक प्रकार मानकर स्वतंत्र प्रमाण के रूप में माना। युक्ति को एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करना दर्शन के क्षेत्र में चरक का मैलिक चिंतन एवं महत्वपूर्ण योगदान है।

संदर्भ

1. Dasgupta Surendranath. A History of Indian Philosophy Vol 1. (reprint). Delhi Motilal Banarasidass; 1997 P212:-13
2. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Commentary Ayurveda:-Dipika of Chakrapanidatta on Charaka Samhita of Agnivesa, Sutrasthana; Tisraishaniya Chapter 11, Verse 17. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 70.
3. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Commentary Ayurveda:-Dipika of Chakrapanidatta on Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Trividharogavisheshavigyaniya Chapter 4, Verse 5. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 247.

4. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Rogabhishagjitiya Chapter 8, Verse 46. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 239

5. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Rogabhishagjitiya Chapter 8, Verse 132. Varanasi Chaukharbha Orientalia, 2011; 282

6. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana, Rogabhishagjitiya Chapter 8, Verse 4. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 262

7. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana, Rogabhishagjitiya Chapter 8, Verse 86. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 274

8. "Acharya Jadavaji Trikamj, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Rogabhishagjitiya Chapter 8, Verse 132. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 282

9. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Commentary Ayurveda:-Dipika of Chakrapanidatta on Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Rogabhishgitiya Chapter 8, Verse 86. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 275.

10. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Sutrasthana; Navegandharanya Chapter 7, Verse 55. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 54.

11. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Commentary Ayurveda:-Dipika of Chakrapanidatta on Charaka Samhita of Agnivesa, Sutrasthana; Navegandharaniya Chapter 7, Verse 55. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 54.

12. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Sutrasthana; Tisraishaniya Chapter 11, Verse 17. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 70.

13. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Sutrasthana; Tisraishaniya Chapter 11, Verse 25. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 72.

14. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Trividharogavisheshavigyaniya Chapter 4, Verse 4. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 247.

15. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana, Trividharogavisheshavigyaniya Chapter 4, Verse 5. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 247

16. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Rogabhishagjitiya Chapter 8, Verse 83. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 274.

17. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Commentary Ayurveda:-Dipika of Chakrapanidatta on Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Trividharogavisheshavigyaniya Chapter 4, Verse 5. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 247.

18. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Rogabhishgjitiya Chapter 8, Verse 6. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 262.

19. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana Rogabhishejitiya Chapter 8, Verse 27. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 266.

20. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Rogabhishgjitiya Chapter 8, Verse 41. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 268.

21. Acharya Jadavaji Trikamji, editor, (reprint ed.). Charaka Samhita of Agnivesa, Vimanasthana; Trividharogavisheshavigyaniya Chapter 4, Verse 6:-8. Varanasi Chaukhambha Orientalia, 2011; 248.

देह प्रकृति–एक विवेचन

प्रोफेसर रवि आर. गोयल
प्रोफेसर पंचकर्म एवं विभागाध्यक्ष
एवा आयुर्वेद कॉलेज, सुपाडी राजकोट, गुजरात

इस संसार में सभी व्यक्ति एक समान स्वभाव, व्यक्तित्व और शरीर आदि वाले नहीं होते; कुछ गंभीर होते हैं तो कुछ चंचल; किसी के बाल काले, किसी के धूसर, किसी के रुक्ष तो किसी के स्निग्ध; कोई व्यक्ति गाढ़ी नींद सोता है तो किसी को नींद कम आती है या खंडित आती है। स्वास्थ्य भी सबका एक जैसा नहीं रहता और विकार भी सबको एक समान नहीं होते। इन सब विभिन्नताओं का कारण आयुर्वेद, व्यक्तियों की प्रकृति भिन्न होना मानता है। व्यक्ति की प्रकृति गर्भधारण के समय ही माता के शोणित और पिता के शुक्र में जिस दोष की प्रधानता होती है और उस समय के वातावरण आदि के प्रभाव के अनुसार तय हो जाती है और वह पूरे जीवन भर नहीं बदलती।

प्रकृति का व्यक्ति के स्वास्थ्य पर बहुत प्रभाव होता है, क्योंकि प्रकृति से संबंधित दोष के अनुसार ही उसका स्वस्थ रहना या रोगी होना निर्भर करता है। यदि व्यक्ति उसकी प्रकृति के दोष के विपरीत आहार और विहार का सेवन करता है तो उसमें विकार होने की संभावना बहुत कम रहती है। दूसरी ओर उस दोष के समान आहार-विहार करने से उसे तुरन्त उस दोष से होने वाले विकार हो सकते हैं।

आयुर्वेद का प्रकृति का विचार ज्योतिषशास्त्र की राशियों के विचार से तुलना करने पर सुगमता से समझा जा सकता है। ज्योतिषशास्त्र में सभी व्यक्तियों का उनकी जन्मतिथि, नक्षत्र, देश आदि के अनुसार बारह राशियों में विभाजित करके उनके भविष्य जीवन की संभावनाओं का निर्धारण कर विपरीत परिस्थितियों से बचने के उपाय सुझाए जाते हैं। उसी प्रकार से आयुर्वेद में व्यक्ति में उपस्थित लक्षणों के आधार पर उसकी प्रकृति का निर्धारण किया जाता है और संभावित रोगों के बारे में सचेत कर उनसे बचने के लिए पथ्य एवं अपथ्य और जीवनशैली सुझाई जाती है। प्रकृति को आजकल की भाषा में constitution भी कहा जा सकता है। अपनी प्रकृति का ज्ञान कर और उसके अनुसार पथ्य का पालन कर और अपथ्य का त्याग कर व्यक्ति निरोग जीवन जी सकता है। इसलिए इस महत्वपूर्ण विषय का पाठकों के लाभार्थ संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है।

रोगों के अधिष्ठान मन और शरीर हैं इसलिए प्रकृति भी दो प्रकार की होती है यथा शारीरिक (देह) एवं मानसिक। साधारणत: मनुष्यों को शारीरिक विकारों से अधिक भय रहता है तथा देह प्रकृति में मन की अवस्था को भी समाविष्ट किया गया है अत: इनमें से देह प्रकृति को अधिक महत्व दिया जाता है इसलिए यहाँ पर निदान एवं उपचारसहित देह प्रकृति वर्णित है।

प्रकृति की परिभाषा

गर्भधारण के समय माता के शोणित और पिता के शुक्र में जिस दोष की प्रधानता होती है और उस समय के वातावरण आदि के प्रभाव के कारण उस गर्भ में जिस दोष की प्रधानता हो जाती है वह उसकी प्रकृति बन जाती है और वह पूरे जीवन भर नहीं बदलती।

देह प्रकृति के प्रकार : दोषानुसार देह प्रकृतियाँ सात प्रकार की होती हैं यथा तीन एकलवात प्रकृति, पित्तप्रकृति और कफप्रकृति; तीन द्वंदज प्रकृतियाँ जैसे वात-पित्त प्रकृति, वात-कफ प्रकृति, कफ-पित्त प्रकृति और एक सम प्रकृति।

1) वात प्रकृति

वात प्रकृति के व्यक्ति चंचल होते हैं और चलते समय अंग हिलाते हैं, उनके बाल पतले, रुक्ष, स्फुटित और धूसर वर्ण के होते हैं। उन्हें नींद कम आती है, भूख और पाचन विषम होते हैं। वे जल्दी-जल्दी और बहुत बोलते हैं, उनकी वाणी रुक्ष और अप्रभावी होती है। अस्थिर ग्रहण, स्मृति और बुद्धि वाले होते हैं। वे तुरंत स्मरण और ग्रहण कर लेते हैं परंतु जल्द ही भूल जाते हैं। गीत, हास्य में रुचि परंतु झगड़ालू होते हैं। स्त्रियों के प्रिय नहीं होते और अल्प शुक्र एवं संतान वाले होते हैं। उनका शरीर लंबा या छोटा हो सकता है परंतु कृश होता है और शिराएँ, कन्डरा आदि स्पष्ट दिखाई देती हैं। उन्हें शीत कम सहन होती है और शीतल पदार्थ अच्छे भी नहीं लगते परंतु उष्ण पदार्थ के प्रति रुचि रहती है। उनको हवा में उड़ने, पहाड़, पेड़ या आकाश के स्वप्न आते हैं।

वात प्रकृति का पथ्य एवं अपथ्य :- वात प्रकृति के व्यक्ति में वातदोष उच्चतम सामान्य सीमा के निकट रहता है अत: थोड़ा भी वात को बढ़ाने वाले आहार एवं विहार के सेवन से वात के प्रकोप का भय रहता है। अत: इस प्रकृति के व्यक्ति को वात-वर्धक आहार एवं विहार के सेवन से बचना चाहिए। दूसरी ओर वात शामक आहार एवं विहार का सदैव सेवन करना चाहिए। वात प्रकृति वाले व्यक्तियों

को रुक्ष एवं शीत पदार्थों का कम सेवन करना चाहिए। इनके लिए अधिक व्यायाम या श्रम करना भी ठीक नहीं होता, अत: बीच में थोड़े-थोड़े विश्राम के साथ काम करना चाहिए। वात प्रकृति के व्यक्तियों के लिए पथ्य तालिका:-2 में विस्तृत रुप से दिया गया है।

2) पित्त प्रकृति

पित्त प्रकृति का व्यक्ति सुकुमार गौर वर्ण उसके शरीर पर व्यंग या पीडिकाएँ अधिक होती हैं। समय के पहले ही बाल सफेद होने या गिरने लगते हैं। दाढ़ी और सिर के बाल और रोम मृदु, अल्प और कपिल वर्ण के होते हैं। वे तीक्ष्ण पराक्रम वाले होते हैं उनकी अग्नि तीक्ष्ण होती है जिसके कारण वे बार बार खाते हैं और शीघ्र पचा भी लेते हैं, प्यास भी अधिक लगती है। साहस, बुद्धि, और बल से युक्त होते हैं स्त्रियाँ के अति प्रिय परंतु वे अल्प शुक्र, कामेच्छा और संतान वाले होते हैं; साथ में अभिमानी, क्रोधी और द्वेषी भी होते हैं। उनका शरीर उष्ण रहता है। मुख और आँखें जल्द लाल हो जाती हैं और धूप एवं उष्ण द्वेषी परंतु शीत प्रेमी होते हैं। उनको पसीना, मल और मूत्र अधिक आता है और पसीने में दुर्गध आती है। उनको स्वप्न में आग, चमकीली वस्तुएँ, सूर्य, विद्युत आदि दिखाई देते हैं।

पित्त प्रकृति का पथ्य एवं अपथ्य : पित्त प्रकृति के व्यक्ति में पित्त दोष उच्चतम सामान्य सीमा के निकट रहता है अत: थोड़ा भी पित्त को बढ़ाने वाले आहार एवं विहार से पित्त के प्रकोप का भय रहता है। इस प्रकृति के व्यक्ति को पित्त-वर्धक आहार एवं विहार के सेवन से बचना चाहिए। दूसरी ओर पित्त शामक आहार का सदैव सेवन करना चाहिए। पित्त प्रकृति वाले व्यक्ति को गरम वस्तुओं का बहुत कम सेवन करना चाहिए। खट्टे, नमकीन और कटु पदार्थों को भी कम खाना चाहिए। पित्त प्रकृति के व्यक्तियों के लिए पथ्य तालिका-2 में दर्शाया गया है।

3) कफ प्रकृति :

कफ प्रकृति वाले व्यक्ति सौम्य होते हैं और उनके अंग, संधि, अस्थि आदि स्निग्ध, श्लक्ष्ण, पुष्ट और परिपूर्ण होते हैं और उनकी छाती विशाल होती है। वे सुकुमार, सुंदर आँखों वाले और गौर वर्ण के होते हैं। वे अधिक मैथुन-शक्ति, शुक्र और संतान वाले होते हैं और अधिक निद्रा वाले होते हैं। उनको मानसिक क्लेश, दु:ख, भूख, प्यास, गर्मी, पसीना कम कष्टकारी होता है। वे काम सोच-विचार

कर धीरे करते हैं और मंद चेष्टा, अल्प आहार-विहार करने वाले होते हैं। शीघ्र क्रोधी नहीं होते परंतु यदि क्रोध आ गया तो जल्दी शांत नहीं होते और बदला लेना नहीं भूलते। दूरदर्शी, गंभीर, मृदुभाषी होते हैं। स्वप्न में जलाशय, बादल या पक्षियों का झुंड दिखाई देता हैं।

कफ प्रकृति का पथ्य एवं अपथ्य: कफ प्रकृति के व्यक्ति में कफ दोष उच्चतम सामान्य सीमा के निकट रहता है थोड़ा भी कफ को बढ़ाने वाले आहार एवं विहार से कफ के प्रकोप का भय रहता है। अत: इस प्रकृति के व्यक्ति को कफ वर्धक आहार एवं विहार के सेवन से बचना चाहिए। दूसरी ओर कफ शामक आहार एवं विहार का सदैव सेवन करना चाहिए। कफ प्रकृति वाले व्यक्तियों को स्निग्ध, गुरु एवं शीत पदार्थों का सेवन कम करना चाहिए। इनके लिए अधिक आराम, निद्रा आदि ठीक नहीं होती अत: इनका कम सेवन करना चाहिए। कफ प्रकृति वाले व्यक्तियों के लिए पथ्य तालिका-2 में दर्शाया गया है।

4) वात-पित्त प्रकृति : इस द्वंदज प्रकृति के व्यक्ति में वात और पित्त दोनों प्रकृतियों के लक्षण पाए जाते हैं।

5) वात-कफ प्रकृति : इस द्वंदज प्रकृति के व्यक्ति में वात और कफ दोनों प्रकृतियों के लक्षण पाए जाते हैं।

6) कफ-पित प्रकृति : इस द्वंदज प्रकृति के व्यक्ति में कफ और पित्त दोनों प्रकृतियों के लक्षण पाए जाते हैं।

द्वंदज प्रकृति के व्यक्तियों का पथ्य एवं अपथ्य : द्वदज प्रकृति के व्यक्तियों में जिन दोषों की प्रधानता होती है उन दोषों के लिए ऊपर बताए गए पथ्य का सेवन करना चाहिए और अपथ्य का त्याग करना चाहिए।

7) सम प्रकृति : सम प्रकृति श्रेष्ठ मानी जाती है परंतु यह बहुत कम व्यक्तियों में मिलती है। इसमें तीनों प्रकृतियों के लक्षण मिलते हैं। इन व्यक्तियों को संतुलित आहार एवं और विहार का सेवन करना चाहिए।

तालिका - 1

प्रकृति अनुसार लक्षण

	वात	पित्त	कफ
क्षुधा	विषम	अधिक	सामान्य
पाचन शक्ति	विषम	अधिक	सामान्य
रस में रुचि	मधुर, लवण, अम्ल	मधुर, तिक्त, कषाय	कटु, तिक्त, कषाय
रस में अरुचि	कटु, तिक्त, कषाय	कटु, अम्ल, लवण	मधुर, लवण, अम्ल
भोजन प्राथमिकता	गर्म, स्निग्ध, गुरु	शीत	गर्म, शुष्क, लघु
तृषा	मध्यम	अधिक	अल्प
निद्रा	अल्प, बाधित या खंडित	गहरी पंरतु थोड़ी कम	गहरी एवं अधिक
स्वप्न दर्शन	आकाश में उड़ना	चमकीली वस्तु दर्शन	जलाशय, जल में तैरना
वाक्	जल्द, रुक्ष, अनियमित	मध्यम, क्रोधयुक्त	गंभीर, धीमी, स्पष्ट, मधुर
गमन गति	जल्द, लघु, अनियमित	मध्यम, नियमित	धीमी, स्थिर, गुरु
आनन	नींद में मुख खुला रहना	आँखों में लाली, गुस्सा	प्रसन्न
स्वेदन	विषम	अधिक	अल्प
संभोग शक्ति	अल्प	मध्यम	अधिक
शुक्र	अल्प	मध्यम	अधिक
मल प्रवृत्ति	विषम, विबंध, कठिन. शुष्क मल	ढीला मल एक से दो बार	सामान्य, एक या उससे कम
मानसिक स्थिति	तुरंत क्षोभित, चिंतित और भयभीत परंतु जल्दी शांत और भूल जाता है	गुस्सैल, जल्द हिंसक बन साकता है और बदला ले सकता है।	बहुत देर तक क्षोभित होता है परंतु यदि गुस्सा हो गया तो फिर देर तक सामान्य होता है और बदला लेना भूलता नहीं
स्मृति	जल्दी याद और जल्द भूल जाता है	मध्यम	देर से याद करता है पंरतु फिर देर तक याद रखता है।
ग्रहण	जल्दी ग्रहण करता है और जल्द भूल जाता है	मध्यम	देर से ग्रहण करता है पंरतु फिर देर तक याद रखता है।

तालिका - 2

प्रकृति अनुसार पथ्य

	वात प्रकृति	**पित्त प्रकृति**	**कफ प्रकृति**
गुण	स्निग्ध और उष्ण	शीत	उष्ण, रुक्ष, लघु
रस	मधुर, अम्ल एवं लवण	मधुर, तिक्त	कटु, तिक्त, कषाय
दुग्ध विकार/पदार्थ	सभी प्रकार के दुग्ध पदार्थ	दूध, मक्खन, घृत	मलाई रहित दूध
अनाज	चावल और गेहूँ	चावल, यव, गेहूँ	यव, मक्का, बाजरा, राई, माँड़ रहित चावल
इक्षु विकार एवं मधु	गन्ना, शर्करा, गुड़, मधु	सोयाबीन टोफू	
तैल	सभी प्रकार के तैल विशेषकर तिल तैल	सूरजमुखी तैल	मूंगफली, नारियल एवं सरसों का तेल
फल	अंगूर, चेरी, तरबूज, नारियल, केला, संतरा, बेर, आम, पपीता, अनानास	मीठे अंगूर, तरबूज, नारियल, केला, मीठा संतरा, मीठे बेर, मीठे आम, मीठे अनानास	सेब, अनार, नाख
सलाद	बीट, गाजर, ककड़ी, शकरकंद, नारियल, आलू	ककड़ी, बंदगोभी हरी पत्ती वाली सब्जियाँ, आलू	बैंगन, बीट, गाज, भिंडी, गोभी
मसाले	काली मिरच, दालचीनी, इलायची, जीरा, आर्द्रक, लवंग, सरसों	दालचीनी, इलायची, धनिया, श्वेत जीरा	सभी मसाले परंतु लवण कम

विमर्श : इनमें से सम प्रकृति श्रेष्ठ मानी जाती है परंतु वह बहुत कम व्यक्तियों में मिलती है। परंतु द्वंदज प्रकृतियाँ आम मिलती हैं। एकल प्रकृतियाँ भी कम व्यक्तियों में पाई जाती हैं। कोई भी प्रकृति बुरी नहीं है क्योंकि सम प्रकृति को छोड़कर बाकी सभी प्रकृतियों में कुछ गुण और कुछ दोष पाए जाते हैं। संबंधित प्रकृति के पथ्य का पालन कर और अपथ्य का त्याग कर वह व्यक्ति स्वस्थ रह सकता है।

रसायन के ऊर्जस्कर प्रभाव

डॉ. मनदीप आर.जी.

एसोसियेट प्रोफेसर

आई पी जी टी एण्ड आर ए, गुजरात आयुर्वेद यूनिवर्सिटी, जामनगर

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में सोशल एवं प्रिवेन्टिव मैडिसिन नाम की एक विशिष्ट शाखा है जोकि स्वस्थ पुरुषों को रोगों से बचाने के उपायों का वर्णन करती है। परंतु आयुर्वेद ने इससे भी आगे जाकर स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य को और भी श्रेष्ठ बनाने के लिए ऊर्जस्कर चिकित्सा का विकास किया है। अब यह प्रश्न उठता है कि स्वस्थ पुरुषों को चिकित्सा की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में यह तर्क दिया गया है कि स्वस्थ पुरुषों में प्रतिदिन के चयापचय से धातुओं का ह्रास होता रहता है तथा उनको वृद्धावस्था जैसे रोग होते हैं, इसके अतिरिक्त कुछ पुरुषों में स्वभाव से ही शुक्र धातु की कमी होती है तथा कुछ में अति व्यवाय से शुक्र-क्षय हो जाता है, अतः स्वस्थ पुरुषों में भी इन सब कमियों की पूर्ति के लिए एक विशिष्ट चिकित्सा प्रणाली की आवश्यकता है। इनके अतिरिक्त स्वस्थ होते हुए भी कुछ मनुष्यों में यह अभिलाषा होती है कि उनका शारीरिक एवं मानसिक बल सर्वश्रेष्ठ हो तथा उनका शुक्र भी उत्तम कोटि का हो ताकि उनकी संतानें श्रेष्ठ गुण संपन्न हों। इन सब बातों का ध्यान रखते हुए आयुर्वेद में ऊर्जस्कर चिकित्सा के नाम से एक विशिष्ट अंग विकसित किया गया है।

ऐसी चिकित्सा जो स्वस्थ पुरुषों में चयापचय से क्षीण हुई धातुओं की पूर्ति करे, वृद्धावस्था को दूर रखे और शुक्र-पूर्ति करके प्रजनन शक्ति को बढ़ाए एवं ऊर्जा का संचार करे उसे स्वस्थ ऊर्जस्कर चिकित्सा कहते हैं। इस ऊर्जा के संचार के संकल्प को पूर्ण करने के लिए आयुर्वेद में दो विशिष्ट अंगों यथा रसायन एवं वाजीकरण को विकसित किया है। इनमें से रसायन शरीर, मन एवं इंद्रिय बल बढ़ाने से संबंधित है तथा वाजीकरण शुक्र धातु एवं प्रजनन शक्ति के संवर्धन से संबंधित है। विस्तार भय के कारण यहाँ पर केवल रसायन तंत्र से संबंधित तथ्यों का ही संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है।

रसायन : आयुर्वेद ने पाँच सौ से अधिक काष्ठ औषधियों के गुण, कर्म आदि का निर्धारण किया है, उनमें से कुछ औषधियों के विश्लेषण से यह ज्ञात हुआ कि वे शरीर में उत्तम धातुओं के

निर्माण में सहायक होती हैं तथा शरीर, मन एवं इंद्रियों के बल को बढ़ाती हैं और वृद्धावस्था को दूर रखती हैं। इस प्रकार की औषधियों को रसायन के अंतर्गत वर्गीकृत करके उनके गुण, कर्म एवं उपयोग क्रिया का विस्तार से निर्धारण किया गया। ओषधियाँ जो उत्तम धातुओं के बनाने में तथा यौवन अवस्था को देर तक बनाए रखने में सहायक हों, आयु एवं बुद्धि को बढ़ाएँ, बल प्रदान करें एवं रोगों को दूर करने में सहायक हों उन्हें रसायन कहते हैं।

रसायन सेवन से लाभ : रसायन सेवन से शारीरिक, मानसिक एवं इंद्रियों के बल में निम्न प्रकार की वृद्धि होती है:-

शारीरिक बल : रसायन का सेवन आरोग्य प्रदान करता है, युवावस्था को बनाए रखता है जिससे वृद्धावस्था देर से आती है, आयु लंबी होती है और शरीर के बल, वर्ण, कांति एवं प्रभा में बढ़ोतरी होती है। इन सबके कारण उस व्यक्ति में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह अपनी की हुई प्रतिज्ञा को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है जिससे उसको सबकी प्रशंसा प्राप्त होती है।

मानसिक बल : रसायन सेवन करने वाले व्यक्ति की स्मृति एवं मेधा आदि मानस भावों में उल्लेखनीय वृद्धि होती है और मानसिक तनाव, विषाद आदि दुर्भाव दूर होते हैं।

इंद्रिय बल : रसायन सेवन से व्यक्ति की ज्ञान इंद्रियाँ यथा अक्षि, श्रवण, गंध, स्पर्श एवं रसना तथा कर्म इंद्रियाँ श्रेष्ठ बल वाली हो जाती हैं और विशेषकर उसकी वाक् शक्ति प्रभावशाली हो जाती है।

रसायन के औषधीय प्रभाव : रसायन के सेवन से आलस्य, अतिनिद्रा, तंद्रा, मानसिक एवं शारीरिक थकावट एवं दुर्बलता दूर होती है, अग्नि की वृद्धि होती है, कंडरा, स्नायु, पेशियाँ, संधियाँ आदि दृढ़ होती हैं, कठिनाइयों एवं रोग को सहने की क्षमता बढ़ती है। यह दोषों की समावस्था बनाए रखने में भी सहायक होता है।

रसायन का वर्गीकरण

प्रयोग भेद से रसायन दो प्रकार का है।

कुटीप्रावेशिक रसायन : कुटीप्रावेशिक रसायन का प्रयोग एक बहुत कठिन, जटिल एवं दुःसह प्रक्रिया है परंतु बहुत ही प्रभावशाली है क्योंकि इससे कायाकल्प हो जाता है। इस प्रयोग के लिए एक

त्रिगर्भा कुटी (तीन गर्भ-बाह्य, मध्य एवं अंत : कक्ष) का होना आवश्यक है जिसमें कि धूप तथा वायु सीधे प्रवेश न कर सके। इस कुटी के अंदर व्यक्ति को कम से कम एक माह तक रहना पड़ता है। सर्व प्रथम व्यक्ति को अंत : गर्भ में रखकर सोम या उसकी स्थानापन्न दिव्य औषध को प्रचुर मात्रा में पिलाया जाता है, जिसके प्रभाव से पहिले उसको वमन एवं रेचन होता है। फिर उसके सारे शरीर के बाल, रोम एवं दाँतधीरे-धीरे गिरने लगते हैं, शरीर कृश होकर केवल हड्डियों वाला दिखता है। इस प्रकार का धातुओं के क्षय का क्रम पंद्रह दिन तक चलता रहता है, इस दौरान उस व्यक्ति को भोजन में केवल दूध ही दिया जाता है। तत्पश्चात धीरे-धीरे काले, घने एवं घुँघराले बाल उगने तथा पुनः दृढ़ दाँत आने लगते हैं। इसके बाद उसको निश्चित समय तक क्रमशः मध्य गृह में फिर बाह्य गृह में रखकर बाहर आने की अनुमति दी जाती है। इस प्रयोग से व्यक्ति उत्तम शारीरिक, मानसिक एवं इंद्रिय बल के साथ वृद्धावस्था रहित सौ वर्ष का स्वस्थ जीवन जीता है। इसे लोकभाषा में कायाकल्प भी कहा जाता है।

उपरोक्त वर्णन संहिताओं में प्राप्त कुटीप्रावेशिक रसायन का संशेपीकरण है। मध्य एवं आधुनिक काल में इस प्रकार के रसायन प्रयोग का प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इसका कारण सोम जैसी दिव्य औषधों की अनुपलब्धता तथा प्रक्रिया का दुःसह होना भी हो सकता है। आधुनिक काल में वाराणसी में काशी हिंदू विश्वविद्यालय में तथा पुणे में कुटी प्रावेशिक रसायन के प्रयोग की कोशिश की गई परंतु आधुनिक डाक्टरों के द्वारा घर वालों को डराने से उनके दवारा इस प्रक्रिया को बीच में ही रोकना पड़ा, अतः दोनों ही समय यह प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो पाई।

वातातपिक रसायन : इस प्रकार के रसायन का प्रयोग व्यक्ति अपने घर में रहकर भी कर सकता है, तथा इसकी विधि भी बहुत सरल हैं, परंतु यह कायाकल्प करने में समर्थ नहीं है। इसलिए निबंध में आगे जो भी चर्चाएं होंगी वे वातातपिक रसायन के परिप्रेक्ष्य में ही होंगी।

प्रभाव भेद से रसायन तीन प्रकार का है यथा काम्यरसायन, नैमित्तिकरसायन एवं आजसिक रसायन।

1) काम्यरसायन : व्यक्तियों की इच्छाएँ अलग-अलग होती हैं। कोई श्रेष्ठ शारीरिक बल तथा आरोग्य चाहता है तो कोई तीक्ष्ण स्मृति, बुद्धि एवं इंद्रिय बल चाहता है। अतः विभिन्न प्रकार की इच्छाओं को

प्राप्त करने में सहायक रसायन को तीन प्रकार में विभाजित किया है यथा प्राणकामा:, मेधाकामा: एवं श्री कामा:।

क) प्राणकामा : बाल, यौवन एवं वृद्ध ये आयु की तीन प्रमुख अवस्थाएँ हैं।इनमें से बालक जल्दी से जल्दी युवा बनना चाहता है और दूसरी ओर कोई भी वृद्ध होना पसंद नहीं करता। इस प्रकार हर कोई युवा बना रहना चाहता है। इस इच्छा की पूर्ति के लिए रसायन औषधियों में वय:स्थापन नाम का वर्ग विकसित किया गया जिसके प्रयोग से यौवनावस्था देर तक बनी रहती है तथा वृद्धावस्था सुखद रहती है। उदाहरणार्थ आँवला वय: स्थापन में श्रेष्ठ, माना गया है। साल में लगभग सात माह तक सितंबर से लेकर मार्च तक ताजा एवं कच्चा आँवला बाजार में उपलब्ध होता है। दो से तीन कच्चे आँवले का रस या कल्क प्रात: या भोजन के साथ लिया जा सकता है। दूसरे माहों में इसका चूर्ण या मुरब्बा प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके प्रयोग से हृदय एवं फेफड़ों को बल मिलता है, बाल काले रहते हैं, वृद्धावस्था देर से आती है, रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है, दाँत एवं मसूड़े मजबूत रहते हैं, पाचन प्रणाली को बल मिलता है तथा अम्लपित्तादि रोग नहीं होते।

इस वर्ग की दूसरी औषधियों में हरीतकी, गुडूची, शतावरी, बला, अश्वगंधा, मुलैठी आदि का समावेश है। इनके प्रयोग से अधिक निद्रा, तंद्रा, दुर्बलता, आलस्य, थकावट आदि दूर होती है तथा पेशियाँ एवं संधियां दृढ़ एवं बलवान हो जाती हैं। ये पाचन एवं चयापचय शक्ति को बढ़ाती हैं।

ख) मेधाकामा : बहुत से व्यक्तियों की स्मृति एवं मेधा अल्प होती है और कुछ लोग अपनी स्मृति, बुद्धि आदि को सर्वश्रेष्ठ बनाना चाहते हैं। इसके लिए रसायन औषधियों में मेध्य रसायन नाम का वर्ग विकसित किया गया है। इस प्रकार की ओषधियाँ स्मृति, बुद्धि एवं इंद्रिय बल बढ़ाती है। इस वर्ग में ब्राह्मी, मंडूकपर्णी, शंखपुष्पी, ज्योतिष्मती, वचा, जीवंती आदि मेध्य औषधियों का समावेश होता है। ब्राह्मी के स्मृति वर्धक कर्म को सी डी आर आई लखनऊ द्वारा भी प्रमाणित किया गया है तथा कहा जाता है कि इसको संसद में सदस्यों के लाभार्थ भी बँटवाया गया।

ग) श्रीकामा : 'श्री' शब्द आदर, संपन्नता आदि का द्योतक है। चरक ने रसायन को तरुण-वय, प्रभा, वर्ण, कांति, स्वरौदार्य, वासिद्धि, प्रणति आदि प्रदान करने वाला बताया है। व्यक्ति में इन सब भावों के आने पर उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली बनता है और ऐसे व्यक्ति को समाज में सम्मान की दृष्टि से भी देखा जाता है। क्योंकि बहुत से व्यक्तियों की इच्छा प्रभावशाली एवं सुंदर व्यक्तित्व वाला बनने की

होती है, जिसे श्री कामा कहा गया है। इस प्रकार की इच्छा पूर्ति के लिए आवश्यकतानुसार गुडूची, शृंगराज, त्रिफला, वचा, अश्वगंधा आदि रसायन द्रव्य उपयोग में लाए जा सकते हैं।

2) नैमित्तिक रसायन : रोग को दूर करने के निमित्त जिस रसायन का सेवन किया जाता है वह नैमित्तिक रसायन है। सभी धातुओं के अपने स्रोतस होते हैं जिनके द्वारा उनको पौष्टिक तत्व पहुँचते हैं तथा मलों का नि:सरण होता है। स्रोतस का पर्याय ख (छिद्र) भी है; इन स्रोतसों में किसी भी प्रकार की विकृति या दौर्बल्यता को खवैगुण्य कहते हैं। रोग उत्पन्न होने की प्रक्रिया में कहा गया है कि प्रसरित दोष जिस धातु के स्रोतस में खवैगुण्य होता है वे वहाँ रुककर उस धातु का रोग उत्पन्न करते हैं। यदि रोग अधिक दिनों तक बना रहे या दारुण हो तो धातु और भी दुर्बल हो जाती है और उसकी रोग प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाती है जिसके कारण रोग असाध्यावस्था की ओर बढ़ जाता है। अत: पीड़ित धातु को शक्तिशाली करने के लिए आयुर्वेद ने नैमित्तिक रसायन का विकास किया है।

जो रसायन औषध विशिष्ट धातु के बल को बढ़ाए वह उस धातु का नैमित्तिक रसायन होता है। रोग की चिकित्सा के साथ-साथ यदि उस धातु के नैमित्तिक रसायन का भी प्रयोग किया जाए तो उसकी रोग प्रतिकारक शक्ति बढ़ती हैं जिससे रोग जल्दी, बिना किसी उपद्रव के ठीक हो जाता है। बहुत से ऐसे रोग हैं जो कि ठीक होने पर पुन: हो जाते हैं; नैमित्तिक रसायन के प्रयोग से ऐसे रोगों की पुन: उत्पत्ति का भय नहीं रहता।

आधुनिक औषधियाँ प्रभावकारी तो हैं परंतु उनके दुष्प्रभाव भी बहुत हैं, जिस कारण बहुत सारे रोगी चिकित्सा बीच में ही छोड़ देते हैं। इस स्थिति में यदि आधुनिक औषधियों विशेषकर गंभीर रोगों की जैसे कि राजयक्ष्मा या अर्बद के साथ यदि नैमित्तिक रसायन की औषधियाँ भी जोड़ दें तो उनके दुष्प्रभाव कम हो सकते हैं। इस दिशा में कुछ अनुसंधान भी हुए जिनमें इस बात की पुष्टि भी हुई है। जैसे कि राजयक्ष्मा की आधुनिक औषधियों एकेटी के साथ पिप्पली और अश्वगंधा का चूर्ण दिया गया और यह पाया कि उपरोक्त आधुनिक औषधियों से दुष्प्रभाव कम हुए और रोगी उनको सहने में अधिक समर्थ हुए। दूसरे अनुसंधान में इसी प्रकार के लाभ कैंसर रोगियों में भी मिले। यहाँ पर उदाहरणस्वरूप कुछ धातुओं अवयवों रोगों केनैमित्तिक रसायनों का उल्लेख किया जा रहा है, जो कि निम्न प्रकार से हैं:-

प्रमेह/मधुमेह के : आमलकी, हरिद्रा, शिलाजतु, विजयसार आदि।

आमवात के : पिप्पली, अश्वगंधा, गुडूची, चित्रक, लशुन, भल्लातक, शुण्ठी आदि

त्वक रोगों के : तुवरक, गुडूची, शृंगराज, त्रिफला आदि

मूत्रवाह स्रोतस के : गोक्षुर, पुनर्नवा, शिलाजतु आदि

प्राणवह स्रोतस के : आमलकी, पिप्पली, अश्वगंधा, वासा, गुडूची, शुण्ठी आदि

पाचन संस्थान के : शतावरी, आमलकी, हरीतकी, गुडूची, विडंग, मुलैठी, वासा आदि

3) आजस्रिक रसायन : अजस्र का अर्थ आज या आज-कल है अतः जो रसायन प्रतिदिन सेवन किए जा सकें उन्हें आजस्रिक रसायन कहते हैं। आयुर्वेद में दूध, घी आदि का प्रतिदिन भोजन में सेवन का विधान है और ये रसायन प्रभाव भी रखते हैं, अतः प्रतिदिन दूध, घी आदि का मात्रापूर्वक सेवन आज़स्रिक रसायन है।

रसायन सेवन पूर्व कोष्ठशुद्धि : जिस प्रकार गंदे कपड़े पर रंग ठीक प्रकार से नहीं चढ़ता उसी प्रकार व्यक्ति को बिना शोधन किए रसायन-प्रयोग वांछित फल नहीं देता। अतः रसायन प्रयोग के पूर्व शोधन करना आवश्यक है। परंतु यदि पूर्ण शोधन की सुविधा नहीं है तो कम से कम कोष्ठशुद्धि करना ही चाहिए। इस कार्य के लिए हरीतकादि योग का प्रयोग विशेषकर लाभकारी है (चरकचिकित्सा 1(1) 25-28)। अन्यथा एरंड तैल 20 मिलीलीटर की मात्रा में प्रातः नौ बजे देकर भी कोष्ठशुद्धि कारवाई जा सकती है।

रसायन का व्याधि-श्रमत्व प्रभाव

आरोग्य रहने के लिए उत्तम व्याधि-क्षमत्व होना आवश्यक है अतः पिछले कुछ दशकों में रसायन औषधियों का व्याधिक्षमत्व पर प्रभाव का आधुनिक गुणांकों के आधार पर अध्ययन किया गया। खरगोश पर किए एक अध्ययन में पाया गया कि वचा, शतावरी एवं मंडूकपर्णी व्याधिक्षमत्व की प्रभावशीलता को और अधिक करते हैं। इन तीनों में से मंडूकपर्णी का प्रभाव सबसे अच्छा था। इसी प्रकार के दूसरे अध्ययनों में पिप्पली आदि के इम्यूनो-मॉड्युलेशन करने का प्रभाव पाया गया।

कुछ रसायन औषधियों के मनुष्यों के इम्नोग्लोबुलिनस जो कि व्याधिक्षमत्व के लिए उत्तरदायी होते हैं, पर प्रभाव का भी अध्ययन किया गया तथा यह पाया गया कि मंडूकपर्णी सिग्निफिकैंटली IgA

एवं IgM को बढ़ाती है। अश्वगंधा और दूध IgA, IgM एवं IgG कोसार्थकता से बढ़ाती है। दूसरे अध्ययनों में शतावरी का सार्थकता IgA एवं IgM बढ़ाने का कर्म मिला तथा कपिकच्छ IgM को, वाराहीकंद IgA एवं IgM को, आमलकी और गुडूची IgA को बढ़ाती है ऐसा पाया गया (गुरदीपसिंह, आयु दिसंबर 1997)।

इनमें से lgA इम्नोग्लोबुलिन पाचन संस्थान, प्राणवह स्रोतस, आँख आदि की श्लेष्म कलाओं में रहकर बाह्य जीवाणुओं से लड़ने की शक्ति प्रदान करती है और उनसे होने वाले रोगों से शरीर की रक्षा करती हैं। उपरोक्त अनुसंधानों में लगभग सभी औषधियों ने IgA को बढ़ाया है अत: उनका प्रयोग संबंधित कलाओं के रोगों के बचाव हेतु करना चाहिए।

IgG जनरल इम्नोग्लोबुलिन है अश्वगंधा, मंडूकपर्णी एवं दुग्ध में इसको बढ़ाने का प्रभाव पाया गया है अत: इनको जनरल व्याधिक्षमत्व बढ़ाने के लिए दिया जा सकता है।

IgM एक फस्ट क्लास इम्नोग्लोबुलिन है। उपरोक्त अध्ययनों में अश्वगंधा, वाराहीकंद, कपिकच्छु एवं मंडूकपर्णी में इसको बढ़ाने की क्षमता पाई गई है अत: इनको भी जनरल व्याधिक्षमत्व बढ़ाने के लिए किया जा सकता है।

आचार रसायन : उत्तम आचार के अनुसरण से ही रसायन के सभी गुण बिना औषध प्रयोग के प्राप्त किए जा सकते हैं। सच बोलना, शांत रहना, क्रोध का त्याग, जरूरतमंद लोगों की मदद करना, प्रार्थना एवं बड़ों का आदर करना, शास्त्रों का ज्ञान, मृदु बोलना, नशों से बचकर रहना और समय पर खाना, सोना, जागना आदि का अनुसरण करना चार रसायन हैं। इन सबका यत्नपूर्वक अनुसरण करना चाहिए क्योंकि इससे रसायन के उपरोक्त बताए गए सभी लाभ प्राप्त होते हैं।

इस लेख में स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य को श्रेष्ठ करने वाले आयुर्वेद के एक महत्वपूर्ण अंग उर्जस्कर चिकित्सा का संक्षेप में वर्णण किया गया। जो कि विश्व के लिए एक नई अवधारणा है अत: इस विषय का प्रचार एवं प्रसार होना चाहिए तथा साथ में अनुसंधान भी होना चाहिए ताकि इसके सिद्धांतों के वैज्ञानिक गुणांकों के आधार पर इसकी उपलब्धियों को सिद्ध किया जा सके और इसे समस्त मानव जाति के कल्याण के लिए उपयोग में लाया जा सके।

संधिवात (Osteoarthritis) एवं उसका आयुर्वेद उपचार

डॉ. भीमसेन बेहेरा
वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी(आयुर्विज्ञान),
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार

डॉ. मनदीप आर. जी.
एसोसियेट प्रोफेसर, आई पी जी टी एंड आर,
गुजरात आयुर्वेद यूनिवर्सिटी, जामनगर

आधुनिक युग में हमारी आहार, विहार एवं जीवन यापन की आदतें तेजी से बदल रही हैं, जिसके परिणाम स्वरूप संधि रोग स्थौलय, हाईब्लडप्रेसर, मधुमेह जैसे रोग बहुत तेजी से बढ़ रहे हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में संधि रोगों में से संधिवात अधिक पाई गई है और ऐसा लगता है कि प्रत्येक परिवार में एक व्यक्ति संधिवात से पीड़ित है। भारत में संधिवात के अधिक होने का कारण स्थौल्य, आरामदायक जीवनयापन, व्यायाम का अभाव तथा भोजन में आवश्यक पोषक तत्वों की कमी हो सकता है। इसके अतिरिक्त आजादी के बाद स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं के बढ़ने से आयु बढ़ी है, जिससे वृद्धों की संख्या में बढ़ोतरी हुई है, जिनमें यह रोग अधिक पाया जाता है। आयुर्वेद के बहिर्विभागों में प्रत्येक दस रुग्णों में से एक जानु, कंधे, गर्दन, कमर या पाष्णि के संधिवात का होता है जो कि आयुर्वेद चिकित्सा से ठीक होना चाहता है। जैसा कि आगे बताया जाएगा चोट या अधिक श्रम, विषम अवस्थाओं में बैठने, लेटने या चलने-फिरनेसे संबंधित संधि दुर्बल हो जाती है अर्थात उसके स्रोतस में विगुणता हो जाती है। दूसरी ओर अपने कारणों से प्रकुपित वात इस प्रकार की विगुण संधि को दूषित कर उसका संधि-वातरोग उत्पन्न करता है। यह शरीर की बड़ी संधियों जैसे जानु, कमर, नितंब, कंधे, गर्दन आदि का रोग है। आमवात तथा इसमें मुख्य अंतर यह है कि आमवात में आम के शारीरिक लक्षण जैसे आलस्य, ज्वर, अपचन, बिना कर्म के ही संधि में पीड़ा होना आदि होते हैं जबकि संधिवात में ये लक्षण नहीं मिलते तथा केवल चलने-फिरने या हिलने-डुलने पर ही संधि में पीड़ा होती है तथा शब्द होता है। तीसरा मिलता-जुलता प्रकार वातरक्त है जो कि पैर के अंगूठे से शुरु होता है, जिसमें बहुत अधिक वेदना होती है और संधि स्पर्श में दुसह्य होती है। आयुर्वेद चिकित्सक

संधिवात रोग के इन मुख्य लक्षणों तथा अन्य रोग परीक्षणों जैसे एक्सरे परीक्षण के आधार पर विभिन्न संधि रोगों का रोग विनिश्चय करते हैं।

आधुनिक आयुर्विज्ञान के अनुसार आहार एवं आहार विध में परिवर्तन, मिथ्या विहार, काल एवं ऋतु में परिवर्तन, शरीर का एवं मानसिक आघात आदि संधिवात के कारण मानते हैं। आयुर्वेद में भी इन कारणों से संधि में विकृति होना तथा वात प्रकोप होना माना जाता है। संधि का सामान्य अर्थ दो वस्तुओं का जुड़ना है परंतु यहाँ पर दो या उससे अधिक अस्थियों का मिलन है। संधि चल एवं अचल भेद से दो प्रकार की होती हैं परंतु संधिवात केवल चल संधियों में ही होता है। अस्थियों के अतिरिक्त तरुण अस्थि, श्लेषक कफ, कन्डरा (टेंडन) एवं स्नायु (लिगार्मेट्स) तथा इन सब कोढकने एवं जोड़कर रखने वाला साइनोवियल कैप्सूल आदि संधियों के अभिन्न अंग हैं। ये सब संधियों को मजबूती से बांधकर रखते हैं तथा भार सहने की क्षमता प्रदान कराते हैं। इसके अतिरिक्त मनुष्यों की संधियों में श्लेष्म कला उपस्थित रहती है जो कि श्लेषक कफ से संधियों का स्नेहन (लुबरिकेशन) करती है, ताकि चलने-फिरने के घर्षण से उनमें हानि न हो। संधिवात में ये सभी भाग किसी न किसी रूप में दूषित होते हैं अतः चिकित्सा कराते समय आयुर्वेद चिकित्सक इन सबका भी विचार करते हैं।

संधिवात के मुख्य हेतु

स्थूलता : स्थूल व्यक्ति में भार वाहक संधियों जैसे जानु संधि, नितंब, कमर, गर्दन आदि में संधिवात अधिक होता है और सबसे अधिक जानु संधि में होता है। इस बात को समझने के लिए यहाँ पर जानु संधि के संधिवात का उदाहरण दिया जा रहा है।

जानु संधि ऊपर फीमर अस्थि और नीचे टीबिया और फिबुला दो अस्थियों के मिलने से बनी है। चलते वक्त इनमें घर्षण न हो इसलिए क्वाड्री शेपनामक पेशियाँ फीमर अस्थि को ऊपर खींचकर रखती हैं। स्थूल व्यक्ति के अधिक भार को कुछ समय तक तो ये पेशियाँ वहन करती हैं परंतु फिर कमजोर हो जाती हैं और ऊपर उठाकर नहीं रख सकतीं। इस कारण चलते वक्त इन तीनों अस्थियों की सतह पर घर्षण होने लगता है तथा उनमें कांटे (spur) जैसे उभार उत्पन्न हो जाते हैं जो चलते वक्त रोगी को चुभने लगते हैं और रुगण को पीड़ा होती है।

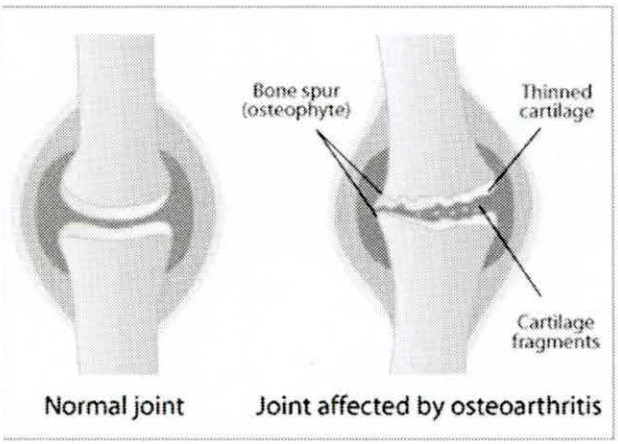

चित्र -1

सामान्य संधि एवं संधिवात युक्त संधि

Thinned
Bone spor osteophyte)
Cartilage fragments
Normal joint
Joint affected by osteoarthritis

जरावस्था : वृद्धावस्था में धातुओं का क्षय होने लगता है जिससे वात प्रकोप बढ़ जाता है तथा पेशियाँ दुर्बल हो जाती हैं और श्लेषक कफ का ह्रास होता है अतः संधिवात कोजरावस्था का रोग माना जाता है। परंतु आजकल मिथ्या आहार-विहार के सेवन के बढ़ने से, आरामदायक जीवन यापन से, व्यायाम कम करने से, शरीरभार बढ़ने से यह रोग अब यौवनावस्था में भी होने लग गया है। वात प्रकृति के पुरुषों में भी यह रोग अधिक होता है।

संधि में खवैगुण्य के कारण : अधिक या मिथ्या व्यायाम, काफी समय तक बहुत भारी वज़न उठाना, ऐसे श्रम जिसमें संधियों पर अधिक जोर पड़ता हो जैसे पीतल के कारखाने के श्रमिक, बहुत अधिक चलना या दौड़ना, गिरने से चोट लगने से संबंधित संधि दुर्बल हो जाती है कुपित वात उसमें पहुँचकर संधि-वातरोग को उत्पन्न कर देती है।

संधिवात की चिकित्सा

आयुर्वेद केवल रोग की ही नहीं अपितु रोगी की अवस्था के अनुसार चिकित्सा करने में विश्वास रखता है। इसलिए किसी भी रोग का एक या दो पैराग्राफ में चिकित्सा वर्णन नहीं किया जा सकता अतः संधिवात की चिकित्सा यहाँ पर विस्तार से दी जा रही है।

निदान परिवर्जन : आयुर्वेद चिकित्सा का पहला सिद्धांत निदान परिवर्जन है अतः ऊपर बताए गए वात प्रकोप, संधि के स्रोतस में दुर्बलता उत्पन्न करने वाले कारणों तथा संधिवात के रोग के कारणों का रोगी को परित्याग करना चाहिए। स्थूलता संधिवात का मुख्य कारण माना जाता है अतः वजन कम करने का आहार-विहार से प्रयास या चिकित्सा करनी चाहिए।

शमन चिकित्सा : गुग्गुलु उष्ण वीर्य है तथा उसके वातहर, शोथहर, वेदनाहर आदि कर्म हैं अतः आयुर्वेद चिकित्सक संधिवात की चिकित्सा में इसका प्रचुर मात्रा में उपयोग कराते हैं। संधिवात की चिकित्सा के लिए त्रयोदशांग गुग्गुलु का विशेष उल्लेख है। शुद्ध गुग्गुलु या इसके योग योगराज गुग्गुलु या महायोगराज गुग्गुलु का भी उपयोग किया जाता है। विबंध युक्त रुगणों के लिए सिंह नाद गुग्गुलु और स्थूल पुरुषों के लिए त्रिफला गुग्गुलु उपयुक्त है। यदि साथ में मूत्र संबंधी विकार है तो गोक्षुरादि गुग्गुलु दिया जाता है।

आजकल गुग्गुलु की उपलब्धता कम हो गई है तो उसके स्थान में शल्लकी का उपयोग हो सकता है, क्योंकि इसके गुण धर्म गुग्गुलु से मिलते जुलते हैं। इन सभी प्रकार के गुग्गुलयों तथा शल्लकी को 500 मिली ग्राम से एक ग्राम की मात्रा में दिन में तीन बार कोष्ण जल के साथ दिया जा सकता है।

सम भाग इंद्रायण की जड़ एवं पिप्पली के चूर्ण में गुड़ मिलाकर 10 ग्राम की मात्रा में दिन में दो बार लेने से संधि-वात ठीक हो जाता है।

बस्ति कर्म : गुट द्वारा औषध देना बस्ति कहलाता है, इसके निरुह और अनुवासन दो मुख्य भेद हैं। जीर्ण संधिवात विशेषकर कटि-गत वत में बस्ति कर्म बहुत लाभकारी पाया गया है। राज यापन बस्ति आदि का कर्म बस्तिक्रम के अनुसार तीस बस्तियों का प्रयोग करने पर कटिशूल, कटिग्रह, कटिगत वात आदि रोगों को दूर करने का कर्म कुछ अनुसंधानों में भी पाया गया है। अनुवासन बस्ति सहचर तैल से दी जा सकती है।

उपनाह : संबंधित संधि पर पुलटिश बांधना बहुत लाभकारी पाया गया है। दशांग लेप में हरिद्रा और तिल तेल मिलकर कल्क जैसा बनने पर उसे थोड़ा सा गर्म कर संधि पर लगाकर उस पर एरंड पत्र रखकर पट्टी बांध देनी चाहिए और रात भर रखकर सुबह उतार देनी चाहिए। उपनाह प्रतिदिन शाम को बांधना और प्रातः हटाना, ऐसा एक सप्ताह तक करना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो एक सप्ताह का विश्राम देकर फिर एक सप्ताह तक इसे बांधा जा सकता है।

स्नेहन : संबंधित संधि पर तैल से अभ्यंग करना बहुत लाभकारी है परंतु अभ्यंग हल्के हाथ से करना चाहिए। लशुन या कर्पूर से सिद्ध तिल तैल या निर्गुडी तेल का उपयोग किया जा सकता है। अभ्यंग

वातहर है, अवयव के बल को बढ़ाकर उन को दृढ़ करता है। संकुचित स्नायुओं को मृदु कर उनकी धन-प्रसारण तथा रुगण की चलने-फिरनेकी क्षमता को बढ़ाता है।

स्वेदन : निर्गुडी, एरंड, अर्क या धत्तूर आदि के पत्रों से बनाए गए पत्र पिंड से संबंधित संधि का स्वेदन करना बहुत लाभकारी है। प्रतिदिन प्रातः लगभग आधे घंटे तक स्वेदन सात दिन तक करके आवश्यकता अनुसार एक सप्ताह के विश्राम के बाद फिर कराया जा सकता है।

रुगण घर पर भी संधि पर कोष्ण लशुन सिद्ध तिल तैल आदि से मृदु अभ्यंग करके बालुका या गरम पानी की बोतल से स्वेदन कर सकता है।

यदि पेशी, कंडरा, अस्थि आदि सहित अधिक जगह पीड़ित हो तो गरम तैल या पानी की धारा संधि पर गिरा कर स्वेदन किया जाना अधिक लाभकारी पाया गया है। स्वेदनवात, शोथ एवं रुजा हर है, संधियों की स्तब्धता एवं संकोच को दूर करता है जिससे संधियों का आकुंचन-प्रसारण आदि गतियों की रेंज बढ़ती है।

स्थानिक बस्ति : उड़द के आटे का कल्क बनाकर उससे पीड़ित संधि पर पालि बनाकर उसमें उष्ण तेल डालकर स्वेदन करना स्थानिक बस्ति है। इसको संधि के अनुसार नाम दिया जाता है, जैसे जानु संधि पर की जाने वाली बस्ति को जानुबस्ति कहते हैं तथा कटिप्रदेश में की जाने वाली बस्ति को कटिबस्ति कहते हैं। इस क्रिया का लाभ यह है कि इससे एक समय में दोनों स्नेहन और स्वेदन हो जाते हैं।

इस प्रक्रिया में जानुबस्ति के लिए सीधा और कटिबस्ति के लिए रुगण को उल्टा लिटाया जाता है और चित्र 2 एवं 3 में दिखाए गए के अनुसार उड़द के आटे से एक पालि बनाई जाती है जिसमें उष्ण तैल भरा जाता है, कुछ समय के पश्चात जब ये तेल शरीर के ताप के लगभग बराबर होने लगता है तो उसे बड़े चम्मच से निकालकर उसमें फिर गरम तैल डाल दिया जाता है। तैल इतना गर्म करना चाहिए जो कि रुगण सहन कर सके। प्रक्रिया समाप्त होने पर पालि से तैल निकालकर उसको साफ करने के पश्चात रुगण को उष्ण जल से स्नान करवाया जाता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया 20 से 30 मिनट तक प्रतिदिन एक सप्ताह तक की जाती है। यदि आवश्यक हो तो एक सप्ताह के विश्राम के बाद फिर एक सप्ताह के लिए की जा सकती है। इससे उपरोक्त वर्णित स्नेहन एवं स्वेदन दोनों के लाभ मिलते हैं।

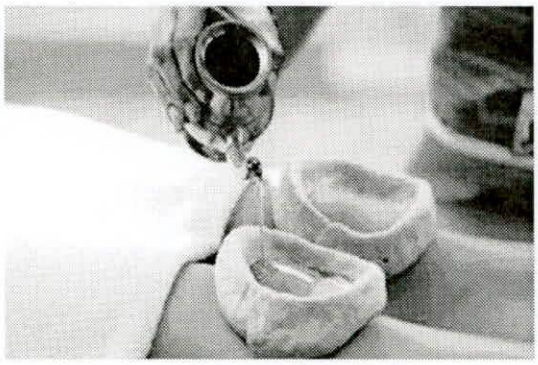

चित्र-2 जानुबस्ति

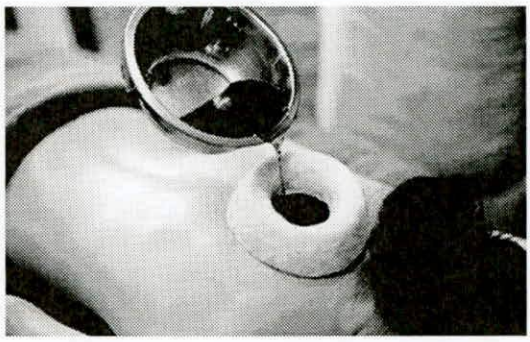

चित्र-3 कटिबत्ति

योगासन : योग विशेषज्ञ की सलाह से पीड़ित संधि विशेष के अनुसार योगासन जैसे चक्रासन, धनुरासन, गोमुखासन, भुजंगासन, पवनमुक्तासन, मत्स्यासन आदि किए जा सकते हैं।

फिजियोथेरापी : फिजियोथेरापी के व्यायाम संधिवात की चिकित्सा में बहुत सहायक हो सकते हैं। फिजियोथेरापिस्ट की सलाह पर पीड़ित संधियों के अनुसार व्यायाम करना लाभकारी होता है।

पथ्य

मृदु व्यायाम जैसे टहलना, तैरना, लौकी, पटोल, शिगरु, मेथी, अदरक, हरिद्रा का भोजन में सेवन शुण्ठी, मरिच, मेथी, सौंफ के समभाग के चूर्ण का प्रयोग मानसिक तनाव, दबाव, चिंतारहित जीवनयापन संतुलित आहार ताकि शरीर का वज़न ना बढ़े। वृद्ध व्यक्तियों को संतुलित आहार के अनुसार वांछित घी, तैल आदि का प्रतिदिन सेवन यदि जानुसंधिवात हो तो भी कैप लगाकर रखना ऐसे कपड़े पहनना जिससे कि पीड़ित संधि ढकी रहे और अपनी उष्णता बनाए रखे।

अपथ्य

निम्नलिखित आहार-विहार संधिवात को बढ़ाता है अतः उनको वर्जित करना चाहिए। वात प्रकोप के कारण जैसे संधि को शीत लगने देना, रुक्ष एवं विषम भोजन, शरीर तथा संधियों के अधिक या विषमझटके आदि वाला हलन चलन अधिक श्रम तथा साहस संधियों को चोट, अधिक उपवास याअनियमित भोजन की आदत, रात्रि जागरण और दिवास्वप्न, अधिक मात्रा में स्नेह का सेवन, गुरु, भोजन जिससे स्थूलता उत्पन्न हो, उड़द, राजमाह, आलू, टमाटर, गोभी, भिंडी, बैंगनआदि का अधिक उपयोग, जंक फूड, अधिक मात्रा में बेकरी पदार्थ का सेवन, खट्टे पदार्थ जैसे खट्टा दही, छाछ आदि।

आयुर्वेद परिप्रेक्ष्य में मनो-व्यापार

डॉ. गुरदीप सिंह
निदेशक, पी जी स्टडीज, एस डी एम कॉलेज ऑफ आयुर्वेद, हासन

डॉ. मंजु अडिगा
सहायक प्राध्यापक, काल भैरव आयुर्वेद कॉलेज, बैंगलुरु

आत्मा चेतन है परंतु निष्क्रिय है अत: उसे कार्य करने के लिए कारण चाहिए। दूसरी ओर मन क्रियावान है परंतु अचेतन है। आत्मा मन को चेतना देती है और चेतन हुआ मन आत्मा का कारण बन जाता है और उसके लिए कार्य करता है। इस प्रकार आत्मा और मन एक-दूसरे के पूरक हैं। ज्ञानेंद्रियाँ अपने विषयों का ग्रहण मन की सहायता से ही कर पाती हैं और उस ग्रहीत विषय का विश्लेषण मन उह्य, विचार, ध्येय आदि करके करता है। अंतिम निर्णय बुद्धि लेती है और कर्मेन्द्रियों को तदनुसार कार्य करने का निर्देश देता है। उपरोक्त सभी विषय मनो-व्यापार के अंतर्गत आते है।

मन द्रव्य है: भारतीय दर्शनों विशेषकर आयुर्वेद के मतानुसार मन द्रव्य है, क्योंकि द्रव्य उसको कहते हैं जिसमें गुण और कर्म दोनों रहते हों। मन के अणुत्व और एकत्व प्रमुख गुण हैं और यह विविध कर्म भी करता है अत मन द्रव्य है। यहाँ पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मैटर और द्रव्य शब्द भिन्न हैं क्योंकि दोनों की परिभाषा अलग-अलग है। अत : मन को मैटर कहने पर आपत्ति हो सकती है परंतु द्रव्य की परिभाषा के अनुसार मन द्रव्य है।

मन का लक्षण : आत्मा, इंद्रिय एवं विषय का संयोग होते हुए भी जब तक मन का संबंधित इंद्रिय के साथ संयोग नहीं होता तब तक वह ज्ञान नहीं कर पाती है। इसलिए ज्ञान का होना और ज्ञान का न होना मन का लक्षण है।

मन के गुण : मन के प्रमुख गुण अणुत्व और एकत्व हैं। मन ज्ञान और कर्म इंद्रियों की सहायता से सारे शरीर पर नियंत्रण रखता है, परंतु इसके साथ वह इंद्रिय की तरह अपने विषयों सुख, दुख आदि को भी ग्रहण करता है इसलिए इसे अतींद्रिय भी कहते हैं।

मन का स्वस्य निग्रह : जैसे कि आरंभ में बताया गया है कि आत्मा मन को चेतना प्रदान करती है परंतु चेतना प्रदान करने के पश्चात आत्मा का मन पर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं रहता और मन

स्वयं ही अपने ऊपर नियंत्रण रखता है, इसलिए मन का मुख्य कर्म स्वस्य निग्रह भी है। अतः अहित विषयों में संलग्न होने से रोकना और हित विषयों में प्रवृत्त होना स्वयं अपने मन के ऊपर ही निर्भर करता है। इसलिए सद्वृत्त का निर्देश है और मन की चिकित्सा के उपायों में धी, धैर्य, स्मृति, समाधि आदि का समावेश किया गया है।

मन के विषय एवं कर्म : चिंत्यम्, विचार्यम्, उह्यम्, ध्येयम् और संकल्पम् मन के विषय हैं।

चिंत्य : मन यह निर्णय करता है कि इंद्रियों द्वारा ग्रहीत विषय विचार करने योग्य है कि नहीं। यह मन का कर्म चिंत्य कहलाता है।

विचार्य : तर्क द्वारा यह पदार्थ हानिकारक है या लाभकर है, इसे लें आदि का विवेचन करना विचार्य है।

उह्य : संभावना के द्वारा विमर्श करना उह्य है। जैसे यह कार्य इस प्रकार होगा। कुछ आचार्य उह्य करना बाह्य इंद्रियों का विषय मानते हैं। परंतु बिना मन की सहायता से उह्य नहीं होता, अंत इसे मन का विषय मान लिया गया है।

ध्येय : भावना ज्ञान का विषय ध्येय है। जैसे मन के द्वारा विषय पर ध्यान अर्थात मनन करना।

संकल्प : संकल्प अर्थात यह ग्रहण योग्य है कि नहीं, इसमें क्या गुण या दोष है आदि का मन द्वारा निर्णय करना संकल्प है।

बुद्धि : धी एवं प्रजा बुद्धि के पर्याय हैं और यह आत्मा का एक स्वतंत्र करण है। इसके अतिरिक्त मन की मनोभवा बुद्धि होती है और पाँचों इंद्रियों की अपनी-अपनी विशिष्ट बुद्धि होती है। क्योंकि विषय जिनका इंद्रियाँ ग्रहण करती हैं वे अनेक प्रकार के होते हैं इसलिए इंद्रिय-बुद्धियाँ भी कई प्रकार की होती हैं।

इंद्रिय बुद्धि अपने विषय का निर्विकल्प ज्ञान करती हैं। मनो-बुद्धि इंद्रियों द्वारा ग्रहीत वस्तु का सविकल्प ज्ञान करती हैं। स्वतंत्र बुद्धि मन के द्वारा, संकल्पित विषय पर उपयुक्त कार्य करने का निर्णय लेती है।

बुद्धि का कार्य समं पश्यति कहा गया है अर्थात सम बुद्धि का कार्य जो वस्तु जैसी है उसका वैसे ही ज्ञान कराना है।

विषय बुद्धि : जब व्यक्ति नित्य वस्तु को अनित्य और अहित वस्तु को हितकारी समझता है तो वह बुद्धिविभ्रंश के कारण होता है। बुद्धि विभ्रंश में व्यक्ति काल, कर्म और अर्थ को हितकारी समझने लगता है और उसके अनुसार विषय कार्य करने लगता है।

धृति : मन धृति के द्वारा अपने आप पर नियंत्रण रखता है अर्थात् धृति मन को अहित कार्यों के लिए होने से रोकती है। इंद्रियाँ अपने विषय का ज्ञान मन तक पहुंचाती हैं, इनमें से कुछ विषय ऐसे होते हैं जो मन के लिए प्रिय होते हैं और कुछ अप्रिय मन को अप्रिय वस्तुओं से दुःख होता है परंतु प्रिय विषय मन को सुख देते हैं। जब इंद्रियाँ मन के प्रिय विषय के संपर्क में आती हैं तो मन और अधिक प्रसन्न होने के लिए इंद्रियों को ऐसे विषयों मेंबार-बार या अधिक समय तक लिप्त होने के लिए प्रेरित करता है। इंद्रिय का किसी एक विशिष्ट विषय में बहुत अधिक लिप्त होना उसका अतियोग कहा जाता है जो कि रोग का एक कारण है। सद्वृत्त, दिन एवं ऋतुचर्या आदि से मन को हित और अहित विषयों का सम्यक ज्ञान कराया जाता है। उसके अनुसार धृति मन को अधिक लिप्त होने से रोकती है। धृतिभ्रंशप्रज्ञा अपराध का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

स्मृति : दृष्ट, श्रुत और अनुभूत ज्ञानों का स्मरण करना स्मृति कही जाती है क्योंकि यह ज्ञान स्मृति में निहित रहता है और स्मरण करने पर उसकी स्मृति हो जाती हैं। वस्तु को यथार्थ में स्मरण करना सम स्मृति का कार्य है। जरावस्था में धीरे-धीरे स्मृति का ह्रास होने लगता है। स्मृति भ्रंश प्रज्ञापराध का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है।

स्मरण ज्ञान के आठ कारण हैं तथा निमित्त, रूप ग्रहण, सादृश्य, विपर्यात, सत्वानुबंध, अभ्यास, ज्ञानयोग एवं पुनः श्रुत अर्थात फिर से सुनना।

निमित्त : कारण को देखकर कार्य का स्मरण करना निमित्त है, जैसे कुम्हार को देखकर घट का स्मरण करना।

रुप ग्रहण :रूप को देखकर समरूप का स्मरण करना रूप ग्रहण है। जैसे जगंल में ग्वाला को देखकर गाय का स्मरण करना।

सादृश्य : दूसरे के समान वस्तु देखकर अपनी समान वस्तु का स्मरण सादृश्य है। जैसे पिता के समान किसी अन्य पुरुष को देखकर अपने पिता का स्मरण करना।

विपर्यात (विपरीत) : विपरीत को देखकर असल का स्मरण होना विपरीत है। जैसे किसी की गाय अधिक दूध देती है और मेरी गाय कम दूध देती है ऐसा ज्ञान होने पर जब किसी की अधिक दूध देने वाली गाय को देखकर यह स्मरण होता है किमेरी गाय दूध कम देती है तो यहाँ विपरीत का उदाहरण है।

सत्वानुबंध : अपने मन को जिस-जिस विषय से संबंधित करना चाहें उसका स्मरण करना सत्वानुबंध है। जैसे मन से राम या कृष्ण का स्मरण करना।

अभ्यास : अभ्यस्त वस्तु के ज्ञान को स्मरण करना एवं अभ्यास शास्त्र का स्मरण करना।

ज्ञानयोग : धारणा, ध्यान एवं समाधि के द्वारा प्राप्तसिद्धि के बाद उस ज्ञान का स्मरण करना ज्ञान योग है।

पुनः श्रुतात : भूले हुए अभ्यस्त विषय को फिर से सुनने पर उसका स्मरण हो जाता है।

इंद्रियों का विशिष्ट संगठन : सृष्टि उत्पत्ति का वर्णन करते समय शारीरिक और मानसिक तत्वों का भिन्न पदार्थों से निर्माण होना बताया है। सृष्टि उत्पाद की प्रकिया में अव्यक्त, महत और अहंकार तक सब समान है परंतु अहंकार को तीन प्रकार का बताया है। उनमें से वैचारिक अहंकार से तेजस अहंकार की सहायता से ग्यारह इंद्रिय मन, पाँच ज्ञानेंद्रिय और पाँच कर्मेंद्रिय की उत्पत्ति होती है जो कि मानसिक तत्व हैं। इंद्रिय और इंद्रियार्थ दोनों की उत्पत्ति एक ही तत्त्व से होना बताया है अर्थात दोनों में समान द्रव्य की उपस्थिति रहती है (सुश्रुत शारीर 119)।

दूसरी ओर भूत अहंकार से तेजस अहंकार की सहायता से पाँच शारीरिक तन्मात्राओं की उत्पत्ति होना बताया है। इस प्रकार मानसिक और शारीरिक अवयवों का भिन्न एवं विशिष्ट संगठन होने से शारीरिक तन्मात्राओं की उत्पति होना बताया है। इस प्रकार मानसिक और शारीरिक अवयवों का भिन्न एवं विशिष्ट संगठन होने से शारीरिक और मानसिक अवयवों के कार्यो में भी भिन्नता पाई जाती है।

पंच-पंचक : चरक ने पंच-पंचक शीर्षक के अंतर्गत पाँच अवयवों सहित वर्णन किया है। श्रोत्रेंद्रिय, स्पर्शेंद्रिय, चक्षुरिंद्रिय, रसनेंन्द्रिय और घ्राणेंद्रिय ये पाँच ज्ञानेंन्द्रियाँ है। प्रत्येक इंद्रिय का अपना अपना अलग द्रव्य, विषय, अधिष्ठान और इंद्रिय बुद्धि होती है। ज्ञानेंद्रियाँ अपने विशिष्ट विषय को मन की सहायता से ही ग्रहण कर सकती हैं।

श्रोत्रेंद्रिय : यह इंद्रिय शब्द को ग्रहण करती है अतः यही इसका विषय भी हैं और आकाश इसका द्रव्य है। कर्ण इसका बाह्य अधिष्ठान है और सिर में इसकी इंद्रिय-बुद्धि स्थित है।

स्पर्शेंद्रिय : इस इंद्रिय का अधिष्ठान त्वचा है।इसका द्रव्य वायुऔर विषय स्पर्श है। इसकी इंद्रिय-बुद्धि सिर में स्थित है।

चक्षुरिंद्रिय : यह इंद्रिय रूप का ग्रहण करती है अतः यही इसका विषय है और यही द्रव्य भी है। चक्षु इसका बाह्य अधिष्ठान है और सिर में इसकी इंद्रिय-बुद्धि स्थित है।

रसनेंद्रिय : रसनेंद्रिय का अधिष्ठान जिह्वा है और जल इसका द्रव्य और विषय रस का ज्ञान करना है। इसकी इंद्रिय-बुद्धि सिर में स्थित है।

घ्राणेंद्रिय : इस इंद्रिय का अधिष्ठान घ्राण है और इसका द्रव्य पृथ्वी और विषय गंध का ज्ञान करना है। इसकी इंद्रिय-बुद्धि सिर में स्थित है।

कर्मेंद्रिय : कर्मेंद्रियाँ पाँच हैं यथा हस्त, पाद, गुद, उपस्थ एवं वागिंद्रिय। हाथ दो हैं उनका कर्म ग्रहण और धारण है, पाँव दो होते हैं उनका कर्म चलना है, गुदा का कर्म मल त्याग और उपस्थ का कर्म मूत्र त्याग है। जिह्व वागिंद्रिय है और उसका कर्म बोलना है।

ज्ञान उत्पति का क्रम : बाह्य इंद्रियाँ विषय का ग्रहण करती हैं और संबंधित इंद्रिय-बुद्धि उसका निर्विकल्पक ज्ञान करती है अर्थात इंद्रियाँ विषय के स्वरूपमात्र का ज्ञान करती हैं फिर इस ज्ञान को मन के पास पहुंचा दिया जाता है। मन संकल्प अर्थात यह ग्रहण योग्य है कि नहीं, इसमें क्या गुण दोष है आदि का विचार करता है। इसके बाद अहंकार अपने अधिकार को व्यक्त करता है अर्थात अपने कार्य संपूर्ण करने कि समर्थता को जताता है। इसके पश्चात बुद्धिनिश्चित करती हे कि उस विषय में क्या कार्य करना है उसके अनुसार संबंधित कर्मेंद्रियाँ कार्य करती हैं।

प्रज्ञापराध :- धी,धृति और स्मृति के विभ्रंश होने पर व्यक्ति जो अशुभ कार्य करता है उसे प्रज्ञापराध कहते हैं। यह सभी शारीरिक और मानसिक विकारों का महत्वपूर्णकारण माना जाता है। जानते हुए भी कि यह कार्य अहितकर है परंतु धी, धृति और स्मृति के विभ्रंश होने के कारण जब अहित विषयों में इंद्रियों के द्वारा लिप्त हो जाता है उसे प्रज्ञापराध कहा जाता है।

मानस भाव : काम, क्रोध, हर्ष, शोक, लोभ, मोह, इच्छा, द्वेष, चिंता, अहंकार आदि मन के भाव हैं और एक स्वस्थ व्यक्ति के स्वभाव के द्योतक हैं। मनुष्य में इन विशेष की उपस्थिति के कारण ही वह अपने व्यक्तिगत सामाजिक और सभ्यता के विकास में सफल हुआ है। उक्त भाव व्यक्ति विशेष में प्रधान रूप से उपस्थित रहता है। उसके अनुसार उसका स्वभाव जाना जाता है। जैसे कुछ व्यक्ति लोभी, तो कुछ उदार या कुछ क्रोधी या दु:खी तो कुछ प्रसन्न या शांत ये भाव व्यक्ति में परिस्थिति विशेष के अनुसार प्रगट होते हैं परंतु उसके नियंत्रण में रहते हुए कभी भी सभ्य व्यवहार की सीमा को नहीं लांघते।

मानस विकास : रज और तम मानसिक दोष हैं परंतु सत्त्व को दोष नहीं माना जाता क्योंकि इससे कोई रोग उत्पन्न नहीं होता। तम दोष के साथ रज दोष का अनुबंध होना आवश्यक है क्योंकि तम दोष रज की सहायता के बिना कोई कार्य नहीं कर सकता। इनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, मान, मद, शोक, चिंता, उद्वेग, भय और हर्ष आदि मानसिक विकार होता है।

मानसिक और शारीरिक दोषों का संबंध : रज और तम मानसिक दोष हैं परंतु सत्त्व दोष नहीं है क्योंकि वह कोई विकार उत्पन्न नहीं करता । रज स्वतंत्ररुप से कार्य करता है परंतु तम दोष को अपने कार्य करने के लिए रज की सहायता आवश्यक है।

मानसिक और शारीरिक दोषों का आपस में घनिष्ठ संबंध है और येएक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। वात का संबंध रज से है और तम का कफ से है। शोक, भय आदि वात को बढ़ाते हैं, क्रोध पित्त को और सुख, हर्ष आदि कफ को बढ़ाते हैं।

मानव व्यापार का विषय बहुत विस्तृत है और विभिन्न दर्शन शास्त्रों में इस पर मत-मतांतर भी हैं। यहाँ पर केवल आयुर्वेद सम्मत विचारों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यह न तो किसी

मत का खंडन करता है और न ही समर्थन करता है। केवल पाठकों की जिज्ञासा निवारणार्थ आयुर्वेद का पक्ष प्रस्तुत करने का एक नम्र प्रयास है।

सत्व एवं शरीर के अभिसंबंध का विश्लेषणात्मक अध्ययन

प्रो. (डॉ.) प्रवीण कुमार चौधरी
चौधरी ब्रह्म प्रकाश चरक आयुर्वेद संस्थान, नई दिल्ली

भूमिका

चरक संहिता शारीरस्थान के 'खड्डिका गर्भावक्रान्ति' एवं महती गर्भावक्रान्ति शारीर में सत्त्व एवं शरीर के नित्य संबंध का विवेचन है-

`शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरम्।' (च.शा.4/37)।

सत्त्व, गर्भोत्पादक भावों में से एक है, यही आत्मा का अन्य शरीर से संयोग कराने का साधन है, अतः शरीर, सत्त्व का अनुविधान या अनुसरण करता है। सत्त्व तीन प्रकार का होता है- शुद्ध सत्त्व (कल्याणांश), राजस सत्त्व (रोषांश) एवं तामस (मोहांश)। इनके भी तर-तम भेद से असंख्य भेद होते हैं। इन भेदों से शरीर विशेष अर्थात् बाल, युवा, वृद्धा अवस्था में क्रमशः शुद्धांश, रोषांश एवं मोहांश वृद्धतर रहता है। इसी प्रकार योनि विशेष में यदि शुद्धांश अधिक हो तो देवयोनि प्राप्त होती है, शेषांश में मनुष्य योनि प्राप्त होती है एवं मोहांश की अधिकता से पशुयोनि प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह है कि शरीर मनोरूप हो जाता है।

विश्लेषणात्मक अध्ययन

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मनुष्य योनि को प्राप्त करने, उससे भी विशिष्ट देश काल में जन्म लेने के पीछे जो प्रमुख कारण है वह सत्त्व ही है, तथापि शरीर एवं मन के पारस्परिक अथवा अन्योन्य अनुविधान को समझने के लिए निम्नलिखित बिंदुओं के ऊपर विमर्श आवश्यक है।

1. शारीरिक दोष एवं मानसिक तत्वों का संबंध

क) प्रथम वातदोष 'रजोबहुल' कहा गया है, शारीरिक दोषों में 'वात' ही सभी प्रकार की गति एवं चेष्टाओं में कारण होता है तथा मानस दोषों में कार्यकारी 'राजस' होता है। राजस की प्रेरणा से ही मन सात्विक या तामसिक विषयों की ओर आकृष्ट होता है अथवा उनका अनुसरण करता

है। बाद के कर्मों में देखा जाता है कि इसके कर्म मन से संबंधित होते हैं जैसे- ' नियंता प्रणेता च मनसः।' (च. सू. 12/8) अर्थात प्राकृत अवस्था में मन के ऊपर नियंत्रण करने वाला एवं मन को प्रेरित करने वाला होता है, इसके विपरीत विकृत अवस्था में यह मन को विचलित करने वाला होता है। यही नहीं, प्रकुपित होने पर यह मनोविकार को उत्पन्न करता है।

ख) पित्त प्रकाशक है, अतः इसका संबंध सत्त्व की बहुलता से है। इसका कर्म दर्शन होता है, सत्त्व भी बुद्धि के मार्ग को प्रशस्त अथवा प्रकाशित कर तत्त्वदर्शन में महत्वपूर्ण है। यदि `पित्त' के कर्मों को देखा जाए तो इसमें. शारीरिक पक्ति, उष्मा आदि के साथ-साथ `प्रभा प्रसादो मेधा च' (च. सू.18/50), के द्वारा इसकी कांति से लेकर मनः प्रसाद और धारण शक्ति का भी उपदेश किया गया है। प्राकृत अवस्था में यह जहाँ शौर्य, हर्ष, संतोष आदि का कारण है, वहीं वैकृतावस्था में यह मनोविकार यथा भय, क्रोध, मोह एवं अवसाद का भी कारण बनता है।

ग) कफ गुरु होने के कारण अवसादात्मक है तथापि इसमें सत्त्व और तामस दोनों की बहुलता है। जहाँ एक ओर यह संधिबंधन, स्थिरता और गुरुता आदि शारीरिक धर्म निभाता है, वहीं यह मानसिक रुप से भी मनुष्य को बल प्रदान करता है तथा क्षमा, धृति-(मनसोऽचाञ्चल्यम्:- चक्र.), अलोभ आदि का कारण होता है। विकार को प्राप्त होने पर अज्ञान, बुद्धि, मोह तथा आलस्य उत्पन्न करने वाला होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि शारीरिक दोष, मानसिक तत्त्वों से संलग्न है।

1. सत्त्व के शरीर का अनुकरण करने के संदर्भ

`बुद्धिन्द्रियमनः शुद्धिर्मारुतस्यानुलोमता। (च. सू. 16/6)

विरेचन अर्थात् अधोमार्ग से शारीरिक शोधन से मानसिक शुद्धि का भी लाभ प्राप्त होना, सत्त्व के शरीर का अनुसरण करने का उत्तम उदाहरण है।

क) बहुदोष के लक्षण एवं सत्त्व

अविपाकोऽरुचिः स्थौल्यं.....दौर्गन्ह्यमवसादकः.....कलैब्यमबुद्धित्वमशस्त-स्वप्नदर्शनम्।

(च. सू. 13/15)। संशोधन प्रकरण में बहुदोष के लक्षणों के संदर्भ में शारीरिक दोषों की बहुलता होने पर अवसादक, क्लैव्य, अबुद्धि, अशक्त स्वप्नदर्शन आदि मानसिक लक्षण भी होते हैं। अतः इस प्रकार शरीर के साथ मन का संबंध भी दृष्टिगोचर होता है।

ख) ओजक्षय एवं मन

'विभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्येयितेन्द्रिय, दुरछायो दुर्मना..... क्षये। (च. सू. 17/73)'

ओज का क्षय होने पर पुरुष व्यतीत होता है, दुर्बल होता है, चिंतन करता है, इंद्रियों में व्यथा होती है एवं दुर्मन होता है। दुर्मन की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि कहते हैं-`मनोबलविहिनः' अर्थात् मन के बल का कम होना। इस प्रकार ओजक्षय से शरीर एवं मन दोनों ही दुर्बल हो जाते हैं। ओजक्षय के कारणों में जहाँ प्रमित एवं रूक्षात्न कारण हैं, वहीं चिंता, भय, शोक को भी हेतु माना गया है। (च. सू. 17/76) इससे परस्परानुवर्तन की सिद्धि होती है।

ग) इसी प्रकार अनेक स्थलों पर परस्परानुविधियन के दृष्टांत हैं जैसे स्थूलता के जवोपरोध (च. सू. 21/4), कृशता के कारणों में शारीरिक के साथ-साथ मानसिक शोक (च. सू.21/11), का होना, लंघन के अतियोग से मनसः संभ्रमः (च. सू. 21/37), शोणितज रोगों में क्रोधप्रचुरता, बुद्धेः संमोहो (च. सू. 24/14), तथा अन्नपान के लाभ में सत्त्वमूर्जयति (मनोबलंकरोति-चक्र.-च.सू. 27/3) आदि का होना सत्त्व एवं शरीर के संबंध को दर्शाता है।

घ) व्याधि के संबंध में सत्त्व एवं शरीर का संबंध- 'शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः। (च. सू. 1/55)'

व्याधि के दो आश्रय बताए गए हैं

यहाँ 'सत्त्वसंज्ञं' शब्द के द्वारा 'मन' कहा गया है। आचार्य चक्रपाणि ने बताया है कि 'कुष्ठादयः शारीरा एवं कामादयस्तु मानसाः उन्मादादयश्च द्वयाश्रयाः।' अर्थात् कुष्ठादि शारीरिक व्याधि होती है, कामादि मानसिक एवं उन्मादादि में दोनों अधिष्ठान कार्यशील होते हैं।

विमानस्थान में शारीरिक एवं मानसिक विकारों का परस्परानुवर्तन बताते हुए आचार्य चरक ने कहा है कि-

'ते च विकाराः परस्परामनुवर्तमानाः कदाचिदनुबध्नान्ति कामादयो ज्वरादयश्च। (च. वि. 6/8)'

यहाँ 'अनुवर्तमान' की व्याख्या में आचार्य चक्रपाणि ने कहा है कि इसका अर्थ परस्पर एक-दूसरे के बल की वृद्धि करना है। शरीर एवं मन में उत्पन्न होने वाले सभी विकार एक-दूसरे के बल की वृद्धि करते हैं।

ज्वर चिकित्सा के संबंध में शरीर एवं मन के संबंध में निम्नलिखित श्लोक दृष्टव्य है-

'केवलं समनस्कं च ज्वराधिष्ठानमुच्यते (च. चि. 3/302)'

ज्वर संपूर्ण शरीर को मन के सहित अधिष्ठान बनाता है, इसलिए ज्वर के प्रत्यात्म लिंड्ग में संतापो देहमानसः कहा गया है। शारीरिक ज्वर पहले देह में होते हैं और मानसिक ज्वर पहले मन में होते हैं। लेकिन शारीरिक ज्वर में मन तथा मानसिक ज्वर में शरीर भी प्रभावित होता है।

'मनोविकारे' निर्दिष्टं कार्य तद् विषमज्वरे। (च. चि.3/309)'

विषमज्वर की चिकित्सा में वही कार्य करना चाहिए, जो मनोविकारों में निर्दिष्ट हैं। आगंतुज अतिसार के विषय में चरक कहते हैं-

'आगन्तू' इव अतिसारौ मानसौ भयशोकजौः। (च. चि.19/11)'

अतिसार मानस भाव भय एवं शोक से उत्पन्न होता है।

'राजयक्ष्मा' रोग का प्रमुख कारण 'रज' दोष कहा गया है। एकादश लक्षणों के उत्पन्न होने में ईर्ष्या, उत्कंठा, भय, त्रास, क्रिध, शोक मानसिक भावों को हेतु बताया गया है। (च. चि. 8/24)

2. अतत्त्वाभिनिवेश

इस मानसिक व्याधि में मलिनाहारादि के अतिसेवन से रज तम की वृद्धि हो जाती है, यह दोष बुद्धि एवं मन को आवृत कर देते हैं, ऐसी स्थिति में बुद्धि विषमता को प्राप्त होती है, तथा नित्य को अनित्य एवं अनित्य को नित्य और हितकर-अहितकर के भेद को करने में समर्थ हो जाती है, इसे 'महागद्' भी कहा गया है। ऐसी स्थिति में रोगी अतत्त्व में स्थिर हो जाता है तथा विविध शारीरिक दुखों को भोगता है। आधुनिक युग के psychosmatic disorders से इसकी तुलना की जा सकती है।

इस प्रकार अन्यान्य उदाहरणों से सिद्ध किया जा सकता है कि' शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते. सत्त्वं च शरीरम्।'

उपसंहार

उपर्युक्त विवरण से निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आते है:-

1. शरीर एवं मन एक-दूसरे के पूरक हैं, परस्पर बलवर्धक हैं।
2. शरीर का प्रभाव 'मन' पर तथा मन का प्रभाव शरीर पर अवश्य रहता है, यह एक-दूसरे का अनुकरण करते हैं।
3. मन पांचभौतिक है, अत: पांचभौतिक आहार के विशुद्ध होने पर मानसिक स्थिति भी शुद्ध रहती है और मलिन आहार से मन पर भी विपरित प्रभाव होता है।
4. मन के रज, तम दोषों के आवृत हो जाने से विभिन्न प्रकार के शारीरिक दुखों से भी रोगी ग्रसित होता है।

संशोधन चिकित्सा, शरीर एवं मन में होने वाली व्याधियों के लिए उत्तम चिकित्सा है।

श्रीमद्भगवद्गीता में उद्धृत स्थितप्रज्ञ की विवेचना एवं चरक संहिता

निशि अरोड़ा
सह प्राध्यापक,
मौलिक सिद्धांत विभाग
आयुर्वेदिक एवं यूनानी तिब्बिया कॉलेज, नई दिल्ली

भूमिका : आधुनिक युग की सबसे बड़ी विडंबना क्या है? यदि इस विषय पर विचार करते हैं, तो शीघ्रता से बात समझ में आ जाती है। आज मानव जाति ने विज्ञान संसाधनों की दृष्टि से बहुत विकास किया है। जीवन को सरल बनाने के अनेक प्रयास किए गए हैं तथापि जीवन 'सरल' होने के स्थान पर जटिल होता जा रहा है। कहीं कोई भी सुखी शांत एवं स्वस्थ दिखाई नहीं देता। इसके मूल को जानने की जिज्ञासा ने ही लेखिका को इस लेख के प्रति उद्यत किया। एक ओर आचार्य चरक की प्रतिज्ञा कि 'यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' थी, तो दूसरी ओर प्रभु कृष्ण की वह महा कृपालता कि निःसंदेह इन दोनों आप्त वचनों में तारतम्य है। अतः प्रस्तुत लेख 'स्थितप्रज्ञ' की विवेचना इन दो श्रेष्ठ ग्रंथों पर अवलंबित है।

विषय विवेचन : प्रभु कृष्ण जी ही सभी प्रेरणाओं का मूल हैं। प्रारंभ में उन्हीं के वचनों को स्थिर धी के परिप्रेक्ष्य में जानना समझना अनिवार्य है।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥(गीता, 18/66)

परिभाषा

(1) प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगताम्।

आत्मन्येवात्मना तुष्ट स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ (गीता, 2/55)

हे पार्थ (प्रथा पुत्र) जब मनुष्य अपनी काम वासनाओं का त्याग कर देता है और अपने में ही संतुष्ट रहता है, उसे 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं।

(2) दुखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहे।

वीतरागभयक्रोधस्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ (गीता, 2/56)

जो मनुष्य दु:ख में विचलित नहीं होता, और सुख में भी रुचिरहित अर्थात् समभाव में रहता है, साथ ही राग (आसक्ति),भय (fear) क्रोध (Anger)से मुक्त रहता है, उसे 'स्थितधी' की संज्ञा दी है।

(3) यः सर्वत्रानभिस्नेहंस्तप्राप्य शुभाशुभम्।

नाभिन्नदति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ (गीता, 2/57)

जो मनुष्य दुख: में विचलित सर्वत्र शुभ प्राप्त होने पर भी स्नेहशून्य हो और अशुभ प्राप्ति पर भी (विरक्त भाव अथवा आसक्ति रहित) हो, वह न तो 'शुभ' की प्रशंसा, स्वागत करता है, न अशुभ से घृणा-द्वेष रखता है, उसी की 'प्रज्ञा' अर्थात् बुद्धि प्रकृष्ट रूप से तिष्ठ् अर्थात् स्थिर कही गई है।

(4) तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (गीता, 2/61)

जो सभी इंद्रियों का संयमन करके उन्हें अपने वश में कर लेता है और मेरे परायण (श्री कृष्ण जी के) हो जाता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

(5) जिस मनुष्य की इंद्रियाँ अपने-अपने विषयों पर सब प्रकार से अंकुश लगा लेती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है।

अन्य अनेक स्थलों पर स्थिर धी बताई है 5/2

इसी विषय में यदि 'चरक संहिता' की दृष्टि से देखा जाए, तो यहाँ भी गीता जी से आश्चर्यजनक समानता मिलती है। आचार्य ने प्रमुखत: 'मन के नियमन' को ही महत्व दिया है। 'सत्याबुद्धि' एवं 'मोक्ष' प्रकरण में आचार्य चरक ने स्थिर बुद्धि के विषय में व्याख्या की है।

1. **मन:समाधि** : (च..11/33)- इसका वर्णन 'अपुर्नभव' सिद्धांत की सिद्धि हेतु आप्तोपदेश के वर्णन के संदर्भ में आया है। मनसमाधि की व्याख्या करते हुए चरक कहते हैं- "विषयेषु प्रसक्ति मनसो वारचित्वाऽऽत्मनि समाधानं मन: समाधि"। अर्थात् मन को विषयों से निवृत्त करते हुए आत्मतुष्टि तक लाने को मनसमाधि कहते हैं।

2. **मोक्ष प्रकटन**

(क) रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान्।

ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्ववृद्धया निवर्तते॥ (च.शा. 1/36)

अर्थात् रजतम (राग-द्वेष)से संयोग होने पर अनंतवान् जन्म-मरण का चक्र चलता रहता है। उनके निराकरण से ही सत्त्व की वृद्धि होती है, और वही मोक्ष का आह्वान है।

(ख) विषयेध्वर तिर्मोक्षे व्यवसायः पराधृति। (1/144) **पराधृति मनोनियमन-अतिशयितं (चक्र)**

3. **वशी का सिद्धांत**

वशी तत् कुरुते कर्म यत् कृष्ण फलमश्नुते।

वशी चेतःसमाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति॥ (च.शा. 1/78)

यहाँ पर 'वशी' शब्द का प्रयोग किया गया है, आत्मा के विशेषण के रूप में। इसकी तीन विशेषताएँ हैं- जो करता है, वही भोगता है। चित्त का समाधान, सभी कर्मों का त्याग। इस श्लोक की व्याख्या में चक्रपाणि कहते हैं-

वशी (स्वेच्छाधीन प्रवृतदितः)-वशि चेत समाधान इति।(च.शा. 178)

अनिष्टेऽर्थे वशी सन्नयं मनो निवर्तयतिःयदि ह्ययं वशी न स्यात्, नमनो निर्वतयितुं शक्नुयात्। वशी सन्नयं मोक्षार्थं प्रवृतःसर्वारम्भं शुभाशुफलं व्यज्यतीव्यर्थः। यहाँ भी चित्त अथवा मन के समाधान कि बात बड़ी है।

4. **सत्या बुद्धि**

शुद्ध सत्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते।

यथा भिनस्यतिबलं महामोहमयं तमः॥

सर्वभावस्वभावज्ञो यथा भवति निस्पृहः।

योगं यथा साधयते सांख्यः संपद्यते यथा॥

यथा नोपैत्यहङ्कार नोपास्ते कारणंस्यं यथा॥

यथा नालम्बते किंचित् सर्वं संन्यस्यते यथा।

याति ब्रह्म यथानित्यमजर शांतमव्ययम्।

विद्या सिद्धिर्भतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता॥ (च.शा. 5/16)

अर्थात शुद्धसत्त्व से बुद्धि प्रवृत्त होती है, वह सत्याबुद्धि है। उसकी विशेषता है कि वह 'मिथ्याज्ञान' का भेदन करती है, तत्वज्ञान वाली है। अंहकार को प्राप्त न होते हुए सुख- दुःख के कारणों का सेवन नहीं करती। यह मोक्षदायिनी है, नित्य, अजर, शांत और अमर है। सर्व 'संन्यस्यते' अर्थात उदासीन भाव वाली है।

5. लोक पुरुष साम्य सिद्धांत

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः। परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति। (च.शा.5/20)

यहाँ गीता जी के (6/29) के साथ साम्यता दर्शित होती है। लोक में स्वयं को व्याप्त देखती है और लोक को स्वयं में देखती है। कोई भी श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ का भेद नहीं करती। वह सत्याबुद्धि है और शांति तथा ज्ञान का मूल है।

उपसंहार - श्रीमद्भगवदगीता एवं आचार्य चरक के मतानुसार स्थिर बुद्धिकी प्राप्ति हेतु मन का नियमन अनिवार्य है। जिसे गीता जी में स्थितप्रज्ञ कहा गया, उसी को 'सत्याबुद्धि' द्वारा आचार्य चरक ने स्पष्ट किया है। चित्त समाधान, चेत समाधान तथा सत्ववृद्धि- सभी के मन को बाह्य विषयों से निवृत्त करवाकर अपने भीतर ले आने की प्रक्रिया बताया है। गीता जी भी यही कहती हैं कि 'मन' को सुख एवं दुःख के भाव से दूर रखना ही स्थिरबुद्धि का परिचायक है। 'वशी' विशेषण से आत्मा की विवेचना मन के नियमन को और अधिक स्पष्ट करती है।

भगवद्गीता 2/61 में भी इंद्रियों को वश में करने का निर्देश है। सत्या बुद्धिही निस्पृह है और सभी विषयों से उदासीन भाव से रहने का नाम है। इसी प्रकार जहाँ गीता जी में कहा गया कि जब वह मनुष्य सभी रूपों में केवल मुझे ही देखता है, तब वह स्थित प्रज्ञता को प्राप्त होता है। उसी प्रकार आचार्य चरक ने भी शरीर स्थान के पाँचवें अध्याय में लोक–पुरुष साम्य के सिद्धांत द्वारा इसी बात को स्पष्ट किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि योगेश्वर कृष्ण की वाणी एवं उन्हीं के द्वारा प्रेरित सांख्य दर्शन में आए तत्व विश्लेषण आचार्य चरक की भी प्रेरणा के विषय बने। दोनों महान् ग्रंथ 'मन' अथवा सत्व के समाधान से स्थित धी की कल्पना करते हैं। वस्तुतः यही आधुनिक युग की सबसे बड़ी विडंबना को दूर करने का एकमात्र साधन है। सद्वृत्त पालन तथा आयुर्वेद में बताए अन्य आयुष्यभावों का सेवन इस लक्ष्य तक पहुँचने के सरल एवं उत्कृष्ट उपाय हैं।

निद्रा – आयुर्वेदीय विवेचन

डॉ. प्रियंका वी. बी.
सहायक प्राध्यापक, कालभैरव आयुर्वेद कॉलेज बैंगलुरु, कर्नाटक

डॉ. गुरदीप सिंह
निदेशक पीजी स्टडीज, एस डी एम आयुर्वेद कॉलेज हासन, कर्नाटक

इंद्रियाँ अपने विषय का ग्रहण तभी कर पाती हैं जब वे मन के संपर्क में रहती हैं अत: इंद्रियों के कर्म के साथ मन भी कर्म करता है। इसके अतिरिक्त मन अपने स्वयं के कार्य जैसे विचार उह्य आदि करता है। जब दिन भर कर्म करते-करते मन और इंद्रियाँ थक जाते हैं और अपने विषयों से निवृत्त हो जाते हैं तब निद्रा आती है। यह प्रक्रिया, प्रकृति ने मन और इंद्रियों को विश्राम देने के लिए बनाई है।

आयुर्वेद में निद्रा को बहुत महत्वपूर्ण माना है और इसकी गणना त्रि-उपस्तंभ की है। दूसरे दो उपस्तंभ आहार और ब्रह्मचर्य हैं। सुश्रुत ने निद्रा को वैष्णवी अर्थात विष्णु की माया कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि विष्णु जिस प्रकार जगत की सृष्टि का आधार और पोषक हैं उसी प्रकार निद्रा भी शरीर की धारक और पोषक है। लगभग यही अभिप्राय उपस्तंभ का है। निद्रा सभी प्राणियों का स्वभाव है और इसकी उत्पत्ति तम से होती है।

निद्रा से लाभ : उचित मात्रा तथा उचित समय पर की गई सुखपूर्वक निद्रा से शरीर पुष्ट होता है, बल एवं शुक्र की वृद्धि होती है, इंद्रियाँ विश्राम के पश्चात् अपने विषय-ग्रहण कार्य को उचित रूप से करने में फिर से समर्थ हो जाती है, आयु स्थिर रहती है।

जिस प्रकार नियमपूर्वक किया गया आहार स्वस्थ बने रहने के लिए लाभकारी होता है उसी प्रकार नियमपूर्वक शयन से व्यक्ति सुखी और स्वस्थ रहता है। स्थूलता और कृशता दोनों आहार और निद्राजन्य होती हैं अर्थात मात्रा से अधिक निद्रा एवं आहार लेने से स्थूलता बढ़ती है और इसके विपरीत कम सेवन से कृशता उत्पन्न होती है।

अनिद्रा से हानि : अनिद्रा के कारण विकार उत्पन्न होते हैं, कृशता, बल की हानि, नपुंसकता और दोनों ज्ञानेंद्रियाँ अपने विषय में उचित रूप से प्रवृत्त नहीं होती और भयंकर रोग होकर मृत्यु की संभावना हो जाती है।

अकाल निद्रा : रात्रि में निद्रा करना प्रकृति का नियम है अतः रात्रि में ही निद्रा करने का विधान है। कुछ अपवादों को छोड़कर रात्रि के अतिरिक्त दूसरे समयों में निद्रा करना अकाल निद्रा है।

अनुचित निद्रा : अकाल में या कम या अधिक निद्रा करना अनुचित है। ऐसा करने से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव होता है। अतः अनुचित निद्रा करना हानिकारक है।

दिवास्वप्न : दिन में सोना दिवास्वप्न कहलाता है। कुछ अपवादों को छोड़कर दिन में सोना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। ग्रीष्म ऋतु को छोड़कर किसी और ऋतु में दिन में सोने का निषेध है, क्योंकि ऐसा करने से कफ और पित्त का प्रकोप हो जाता है।

दिवास्वप्न के योग्य : ग्रीष्म ऋतु आदान काल में आती है अतः इस ऋतु में व्यक्तियों का शरीर रुक्ष होने से वात की वृद्धि हो जाती है और इस ऋतु में रात्रियाँ छोटी होती हैं अतः इस ऋतु में दिन में सोना वर्जित नहीं है।

जो व्यक्ति गीत, अध्ययन, मद्यपान, मैथुन, भार, रास्ता चलना आदि कर्मों से या अति शोधन के कारण क्षीण हो गए हों वे दिन में भी सो सकते हैं। बाल, वृद्ध, कमजोर, कृश, यान से क्लांत, रात्रि जागरण किए हुए व्यक्ति दिन में सो सकते हैं।अजीर्ण,क्षत, क्षीण के रोगी और तृष्णा, अतिसार, शूल, श्वास, हिक्का से पीड़ित दिन में सो सकते हैं। पतित, अभिहत्त, उन्मत्त व्यक्ति दिन में सो सकते है उपरोक्त व्यक्ति सभी ऋतुओं में दिन में सो सकते हैं। इससे उनकी धातुओं में समता आती है, बल की वृद्धि होती है, बढ़ा हुआ कफ उनके अंगों की पुष्टि करता है और आयु स्थिर होती

दिवास्वप्न का सर्वथा निषेध : दिन में सोने से स्निग्धता बढ़ती है जिससे कफ की वृद्धि होती है। अतः निम्नांकित व्यक्तियों को सभी ऋतुओं और काल में दिन में सोने का निषेध है। मेदस्वी (मेद से स्थूल), शिर शूल, स्तैमित्य, शरीर में भारीपन, अंगमर्द, अरोचक, अग्नि-नाश, हृद्- प्रलेप, शोफ, हल्लास, पीनस, अरुंषिका, पिडिका, कंडू, वृद्धि, तंद्रा, प्रमोह, कास, गले के रोग, स्मृति एवं बुद्धि

का नाश, स्रोतों में रुकावट, ज्वर, इंद्रियों में असमर्थता रोगों से पीड़ित व्यक्तियों को दिन में सोना मना है।

विष से पीड़ित व्यक्ति यदि सोता है, विशेषकर दिन में सोता है तो उसका विषवेग बढ़ जाता है अत: विष से पीड़ित व्यक्ति को सोने नहीं देना चाहिए।

रात्रि जागरण : अनुचित रात्रि जागरण से वात की वृद्धि हो जाती है जिससे शरीररुक्ष हो जाता है और वात के विकार होने की संभावना रहती है। परंतु रात्रि में सामान्य से कुछ कम सोना वजन और मेद को कम करने का अच्छा उपाय है। यदि किसी कारणवश रात्रि को जागना पड़े तो उसकी भरपाई के लिए रात्रि में जितने समय के लिए जागरण किया है उससे आधे समय तक दिन में सो लेना चाहिए। इससे रात्रि जागरण के हानिकारक प्रभाव से बचा जा सकता है।

योग निद्रा : सामान्य रूप से बैठे-बैठे आँखें बंद करके दिन में यदि कोई व्यक्ति निद्रा करता है तो उसमें न तो स्निग्धता बढ़ती है और न ही रुक्षता होती है, इसलिए यदि आवश्यक हो तो थोड़ी देर बैठे-बैठे निद्रा दिन में भी ली जा सकती है। योग निद्रा भी कह सकते हैँ।

अनिद्रा के कारण : किसी कार्य विशेष में व्यस्त होने से भी निद्रा नहीं आती। व्यक्ति जिस काल में निद्रा के लिए अभ्यस्त नहीं है उस काल में उसे निद्रा नहीं आती। कुछ विकारों में जैसे सन्निपात ज्वर, वातिक उन्माद आदि रोगों में निद्रा नहीं आती। वात एवं पित्त प्रकृतिवाले व्यक्तियों को निद्रा कम आती है। पित्त और कफ के प्रकोप से भी निद्रा नहीं आती।

अनिद्रा की चिकित्सा

यदि किसी रोग या दूसरे कारणों से निद्रा कम हो गई हो तो निम्नांकित उपायों से ठीक हो जाती है। अभ्यंग, उत्सादन, संवाहन, स्नान, नेत्र तर्पन, सिर और मुख पर शीतल द्रव्यों का लेप, शिरोधारा, दही, घी, मधु का सेवन मनोनुकूल गंध सेवन और शब्दों का सुनना, सुंदर, स्वच्छ, मन के अनुकूल बिस्तर बिछाकर पलंग पर सोना, घर का सुंदर होना, अभ्यस्त समय पर सोना।

अतिनिद्रा की चिकित्सा : विरेचन, शिरोविरेचन, वामन, भय, चिंता, क्रोध, धूम्रपान, व्यायाम, रक्तमोक्षण, उपवास, शैय्या का मनोनुकूल न होना, सत्व गुण की प्रधानता होना, तमो गुण का नाश आदि शरीर के लिए अहितकारी उपाय अति-निद्रा को नष्ट करते हैं।

निद्रा के प्रकार

1. **तमोभवा** : शरीर में तमो गुण की प्रधानता से जो निद्रा उत्पन्न होती है, उसे तमोभवा कहते हैं। यह निद्रा बिना प्रत्यक्ष कारण के आती है और प्राय: अनिष्ट की सूचक है क्योंकि यह मृत्यु की द्योतक है और मृत्यु के समय आती है। सुश्रुत में यह प्रलय काल में आनेवाली तामसी निद्रा के नाम से वर्णित है।
2. **श्लेष्मसमुद्भवा** : शरीर में कफ बहुत अधिक बढ़ जाता है तो जो निद्रा आती है उसे श्लेष्मसमुद्भवा निद्रा कहते हैं।
3. **मन शरीर श्रम संभवा** : अधिक मानसिक या शारीरिक या दोनों कार्यों से मन और शरीर थक जाते हैं, उसको मन: शरीर श्रम संभवा निद्रा कहते हैं।
4. **आगंतुकी** : जब शरीर में तमोगुण अपने कारणों से बढ़कर सभी स्रोतसों को अवरुद्ध कर निद्रा उत्पन्न करता है तो उसे आगंतुकी निद्रा कहते हैं।
5. **व्याधि अनुवर्तिनी** : शरीर में जब कफज रोग कफ की वृद्धि से उत्पन्न होते हैं तो उनके कारण जो अधिक निद्रा आती है उसे व्याधि अनुवर्तिनी निद्रा कहते हैं।
6. **रात्रि स्वभाव प्रभवा** : रात्रि में सभी स्वस्थ व्यक्तियों को नींद आती है उसे रात्रि स्वभाव प्रभवा निद्रा कहते हैं।

सुश्रुत ने तीन प्रकार की निद्रा मानी है यथा वैष्णवी, वैकारिकजी और तामसी निद्रा। परंतु चरक ने इनका छह प्रकार की निद्राओं में अंतर्भाव कर लिया है। वैष्णवी निद्रा का वर्णन रात्रि स्वभाव प्रभवा से मिलता है, तामसी निद्रा और तमोभवा निद्रा में चरक की शेष तीन प्रकार की निद्राओं का समावेश हो जाता है। वृद्ध वाग्भट के अनुसार छह प्रकार की निद्रा होती है।

यह देखने में आया है कि आजकल का युवा वर्ग टीवी, सिनेमा, इन्टरनेट के खेल आदि में व्यस्त होकर रात्रि को देर तक जागकर अपनी नींद का समय बिगाड़ लेते हैं और सुबह देर तक सोते रहते हैं। इस प्रकार निद्रा की बिगाड़ी हुई आदत का बाद में सुधारना बहुत कठिन होता है। ब्रह्म मुहूर्त

या कम से कम सूर्योदय के पूर्व जागना स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभकारी है, अत:रात्रि में समय पर सोने का प्रयत्न करना चाहिए और प्रातः समय पर जागना चाहिए। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि समय पर उचित निद्रा लेना स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभकारी है, वहीं दूसरी ओर असमय या अनुचित निद्रा शरीर के लिए हानिकारक भी हो सकती है। अतः सोच-समझ कर प्रकृति के अनुसार समय, ऋतु आदि का विचार करके निद्रा लेनी चाहिए।

आयुर्वेद के विकास में आधुनिक विज्ञान एवं तकनीक का योगदान

डॉ. राजेश छोकर
विभागाध्यक्ष, शालाक्यतंत्र,
आयुर्वेद एवं यूनानी तिब्बिया कॉलेज, नई दिल्ली

विज्ञान एवं तकनीक दो ऐसे शब्द हैं जो हमारे जीवन में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इनके बिना जीवन की परिकल्पना कठिन है। विज्ञान एवं तकनीक दोनों एक-दूसरे के संपूरक हैं। वैज्ञानिक विधि से एक नई तकनीक का उद्‌गम होता है एवं वह नई तकनीक एक विशिष्ट विज्ञान एवं उसकी शाखाओं को समृद्‌ध करती है।

वैज्ञानिक अपने मूल विचारों एवं नवपरिवर्तनों के आधार पर नई तकनीकों का विकास कर विज्ञान की विभिन्न शाखाओं को समृद्‌ध करते हैं, यथा –कृषिशास्त्र, खाद्‌य प्रसंस्करण, संचार, चिकित्सा, मौसम विज्ञान, युद्‌धशास्त्र आदि। हम सभी अपने दैनिक जीवन में हर क्षेत्र में विज्ञान तथा तकनीक पर पूर्ण रूप से निर्भर हो गए हैं।

नई तकनीकों के आविष्कारों के कारण ही चिकित्सा शास्त्र का भी निरंतर विकास हो रहा है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के इस युग में नवीन वैज्ञानिक एवं चिकित्सकीय विधियों की सहायता लिए बिना चिकित्सा करना अत्यंत कठिन है।

आयुर्वेद चिकित्सा विज्ञान की एक प्राचीन पद्‌धति है। आयुर्वेद का वैशिष्ट्य इसका संपूर्णतावादी दृष्टिकोण है अर्थात् यह न केवल रोगोपचार अपितु उनके उत्पन्न न होने पर भी जोर देता है।

प्राचीन युग में उन्नत जीवन शैली के कारण मनुष्यों की रोग प्रतिरक्षा क्षमता प्रबल होती थी और इसी कारण रोग भी कम होते थे। इसके अतिरिक्त प्रदूषण मुक्त वातावरण एवं औद्‌योगिक / व्यावसायिक संकट का न होना भी महत्वपूर्ण था। सामान्य जन शास्त्रोक्त दिनचर्या एवं ऋतुचर्या में वर्णित आहार-विहार का पालन करते हुए स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन जीते थे।

जैसे-जैसे सभ्यताओं का विकास हुआ, मनुष्य नए-नए आविष्कारों के कारण प्रकृति से दूर होने लगा। जनसंख्या वृद्धि हुई तो प्राकृतिक संसाधन क्षीण होने लगे। ऐसे में नए प्रयोग हुए और मानव जीवन कृत्रिम संसाधनों पर निर्भर होने लगा। ऐसे में परिवहन क्षेत्र में विकास हुआ और विभिन्न सभ्यताओं का परस्पर संपर्क हुआ। प्रकृति से दूर रोग प्रतिरक्षा क्षमता क्षीण, व्यस्त एवं शास्त्रोक्त दिनचर्या एवं ऋतुचर्या का पालन करने वाले मनुष्य अस्वस्थ रहने लगे। नई-नई व्याधियों का प्रादुर्भाव होने लगा। विज्ञान हर क्षेत्र में प्रगति कर रहा था और चिकित्सा विज्ञान भी इसका एक भाग था। वैज्ञानिक रोगों के उपचार हेतु कृत्रिम रासायनिक पदार्थों का अविष्कार करते रहे और इस प्रकार आधुनिक चिकित्सा विज्ञान अर्थात् ऐलोपैथी का प्रादुर्भाव हुआ। इस नूतन पद्धति से रोगों के उपचार में शीघ्रता एवं सुनिश्चितता का विधान था।

आधुनिक चिकित्सा विज्ञान में न केवल औषधि चिकित्सा अपितु शल्य चिकित्सा का अभूतपूर्व विकास होने के कारण रोगों के त्वरित उपचार में सहायता मिल रही है और मनुष्य की औसत वय वृद्धि में सहायता मिली है। परंतु दूसरी ओर यह एक द्विधारी तलवार भी सिद्ध हुई है। इसकी कुछ सीमाएँ भी हैं और दुष्प्रभाव भी। हमारा जीवन विज्ञान एवं तकनीक के कारण सरल तो हुआ है पर हमारी जीवनशैली विलासिता के कारण हम सबको और जटिल रोगों के प्रति असुरक्षित कर दिया है। यहाँ आयुर्वेद का संपूर्णतावादी दृष्टिकोण चिकित्सा विज्ञान का संपूरक बनता है।

आवश्यकताएँ एवं चुनौतियाँ :आयुर्वेद एक प्राचीन चिकित्सा पद्धति होने के कारण वर्तमान युग में इसे इसके संपूर्ण एवं वास्तविक रूप में प्रयोग में लाना कठिन है क्योंकि व्यक्ति व्यस्त है और त्वरित लाभ हेतु आधुनिक चिकित्सा विज्ञान पर निर्भर है।

नैदानिकी:आज आयुर्वेदीय चिकित्सक केवल प्राचीन विधियों पर निर्भर नहीं है, अपितु मूल आधुनिक उपकरणों यथाटार्च, थर्मामीटर, स्टैथेस्कोप, रक्तदाबमापी यंत्र, शर्करामापी यंत्र आदि एवं अग्रिम नैदानिक विधियों यथा अल्ट्रासाउंड, कैटस्कैन, एम. आर. आई. आदि की सहायता भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जैव रासायनिक एवं वैकृतिक (बायोकैमिकल एव पैथोलाजिकल) जाँच भी निदान में अत्यंत सहायता प्रदान करते हैं।

चिकित्सकीय:आजकल की व्यस्त जीवनशैली के कारण हर व्यक्ति के पास इतना समय नहीं है कि वह दीर्घ अवकाश लेकर कुटीप्रावेशिक रसायन आदि विधियों का अनुपालन करे। चिकित्सा का मूल ध्येय है कि ये रोगी को सरल एवं अनुपालन योग्य लगे।

- हमारी औषधियां ऐसी होनी चाहिएं जिन्हें रोगी सरलता से ले सके।
- अधिकतर रोगी मुख्यतया बच्चे एवं युवतियां क्वाथ, चूर्ण, आसव आदि अस्वादु औषधियों को लेने में असहजता का अनुभव करते हैं। अत: हम अपनी औषधियों को शुगर कोटेड टैबलेट्स, कैप्सूल्स, ग्रेन्यूल्स, सीरप आदी के रूप में दे सकते हैं। बाह्य प्रयोग हेतु लेप एवं तैल आदि को आइन्टमेंट्स, जैल आदि के रूप में दिया जा सकता है।
- यह अत्यंत प्रसन्नता का विषय है कि आजकल फार्मा कंपनियां वैज्ञानिक एवं तकनीकी विधियों से मशीनों की सहायता से अनुपालन योग्य दवाइयों का निर्माण कर रही हैं।

पंचकर्म विज्ञान : पंचकर्म एक ऐसी शास्त्रोक्त विद्या है जिसके बिना आयुर्वेद चिकित्सा अपूर्ण है; परंतु शास्त्रोक्त विधियां रोगी एवं चिकित्सक दोनों के लिए दुष्कर सिद्ध होती हैं। ऐसे में विधियों को सरल एवं अनुपालन योग्य बनाने हेतु आधुनिक तकनीक की सहायता से ऐसे अनेक यंत्रों का उपयोग होने लगा है जिनसे पंचकर्म विधियां रोगी एवं चिकित्सक दोनों के लिए सरल एवं सुगम हो गई हैं यथा-अभ्यंग हेतु विद्युत चालित अभ्यंग यंत्र, स्वेदन कक्ष, स्वचालित शिरोधारा यंत्र, बस्तिकर्म हेतु विभिन्न प्रकार के कैथेटर एवं अनिमा यंत्र आदि।

अनुसंधान एवं विकास (आर. एण्ड डी.)

आयुर्वेद की जनमानस में बढ़ती प्रसिद्धि के कारण आज की सबसे बड़ी आवश्यकता एवं चुनौती है- आयुर्वेदिक दवाओं की मांग एवं आपूर्ति के अंतर को कम करना। ऐसे में आवश्यकता है कि फार्मा कम्पनियाँ औषध अनुसंधान एवं विकास पर निम्न प्रकार से कार्य करें।

चूँकि आयुर्वेदिक औषध योगों में अनेक औषधियाँ पड़ती हैं जिससे वे महँगी हो जाती हैं। अत: एकल औषध के विकास पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

शीतित शुष्क सत्व, (फ्रीज ड्राईड ऐक्सट्रैक्ट) को कैप्सूल अथवा टैबलेट रूप में प्रयोग करने से दवा अनुपालन योग्य एवं अत्यधिक लाभकारी हो जाती है।

औषधियों अथवा उनके सत्वों का आधुनिक वैज्ञानिक मानकों के अनुसार परीक्षण करना चाहिए जिससे वे आधुनिक वैज्ञानिकों एवं चिकित्सकों में स्वीकार्य हों और उनकी प्राप्ति बढ़े। ऐसा कई फॉर्मा कम्पनियाँ कर भी रही है।

सारांश

आधुनिक विज्ञानएवं तकनीक ने वास्तव में वर्तमान में आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति को काफी हद तक समुन्नत कर दिया है।

- वैज्ञानिक तकनीकों का प्रयोग भी किया जा रहा है।
- संस्थानों में कार्यरत चिकित्सा शोधार्थी औषध की उपयोगिता सिद्ध करने के लिए वैज्ञानिक मानकों का प्रयोग कर रहे हैं।
- आज कृषकजन औषध संर्वधन (खेती) हेतु आधुनिक कृषि विज्ञान की तकनीकों का प्रयोग कर रहे हैं।
- फार्मा कम्पनियाँ भी अब आयुर्वेदिक दवाइयों का बृहत् स्तर पर उत्पादन कर रही हैं। ऐसे में औषध मानकीकरण एवं एच. सी. जैसी आधुनिक ऐसी आशा है कि आधुनिक विज्ञान एवं तकनीक की आयुर्वेदीय चिकित्सा के प्रचार एवं प्रसार में मुख्य भूमिका रहेगी।

व्यायाम के लाभ और हानि

प्रोफेसर गिरीष के. जे.
प्रोफेसर काय चिकित्सा
एस डी एम आयुर्वेद कॉलेज हासन (कर्नाटक)

प्रोफेसर रवीकांत आर. गोयल
प्रोफेसर, पंचकर्म एवा आयुर्वेद कॉलेज सुपाडी,
राजकोट (गुजरात)

प्रतिदिन व्यायाम करना आयुर्वेद मेंबताई गई दिनचर्या का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। व्यायाम केलाभों के बारे में किसी को भी किसी प्रकार की आशंका नहीं है परंतु अधिक व्यायाम करना शरीर के लिए हानिकारक हो सकता है। अपनी शक्ति से भी अधिक व्यायाम करने को साहस कहते हैं और यह भयंकर रोग जैसे राजयक्ष्मा का कारण हो सकता है अत: मात्रापूर्वक व्यायाम प्रतिदिन करना चाहिए।

व्यायाम की परिभाषा : शरीर की जो चेष्टामन के अनुकूल हो, शरीर में स्थिरता लाए और बल को बढ़ाए, वह शारीरिक व्यायाम कहा जाता है। व्यायाम की संक्षिप्त परिभाषा है कि जो कर्म शरीर में आयास (थकावट) उत्पन्न करे वह व्यायाम है।

व्यायाम प्रतिदिन परंतु उचित मात्रा में करना चाहिए इसे कम करने पर उचित लाभ प्रगट नहीं होता और अधिक व्यायाम करना शरीर के लिए हानिकारक है। अत: अर्धशक्ति व्यायाम करने का निर्देश है।

अर्ध शक्ति व्यायाम के लक्षण : व्यायाम करते समय जब ललाट और कक्षा में पसीना आ जाए और मुख से श्वास चलने लगे तो समझना चाहिए कि अर्ध शक्ति व्यायाम हो गया है तब व्यायाम-प्रक्रिया बंद कर देनी चाहिए।

मात्रा पूर्वक व्यायाम के लाभ

- व्यायाम करने से शरीर में स्थिरता एवं कांति आती है,
- शरीर की सम्यक पुष्टि होती है,
- अंग सुंदर और सुसंगठित हो जाते हैं और मांसपेशियाँ दृढ़ होती हैं।
- पाचन शक्ति बढ़ जाती है,

- पसीना निकलने से शरीर शुद्ध हो जाता है,
- आलस्य दूर होकर शरीर में लघुता आती है।
- श्रम, क्लम, पिपासा, उष्णता और शीत को सहने की शक्ति बढ़ती है।
- रोग भय कम होकर आरोग्य प्राप्त होता है।
- वृद्धावस्था देर से आती है।
- यह मेद और वसा को कम करता है इसलिए स्थूलता को कम करने के लिए व्यायाम श्रेष्ठ उपाय है।

व्यायाम के कुछ नियम :व्यायाम के पूर्व तैल अभ्यंग करना चाहिए और विशेषकर व्यायाम प्रातःकाल करना चाहिए परंतु आवश्यकता अनुसार शाम को भी व्यायाम किया जा सकता है। व्यायाम हमेशा खाली पेट ही करना चाहिए और भोजन के बाद कभी नहीं करना चाहिए।

व्यायाम के पश्चात पसीना पोंछकर कोष्ण जल से स्नान करना चाहिए। व्यायाम प्रतिदिन सभी ऋतुओं में करना चाहिए परंतु शीत ऋतुओं और वसंत में यह विशेषकर पथ्य है।परंतुग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतुओं में व्यायाम सावधानी पूर्वक शीत स्थान में और अर्धशक्ति से भी कम करना चाहिए। परंतु खिलाड़ी और व्यायाम के अभ्यस्त व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार सभी ऋतुओं में व्यायाम कर सकते हैं क्योंकि अभ्यास के कारण उनको हानि की आशंका कम होती है।

व्यायाम के अयोग्य :भोजन करने के पश्चात और अति स्त्रीः-प्रसंग से क्षीण एवं कृश व्यक्तियों के लिए व्यायाम का निषेध है। व्यायाम से वात और पित्त दोष की वृद्धि होती है इसलिए इन दोषो के रोगियों में व्यायाम का निषेध है। रोग वास्था में व्यायाम का सामान्यतः निषेध है परंतु रक्तपित्त, शोष, कास, श्वास, तृष्णा, आमवात और भ्रमरोगों से पीड़ित रोगियों को व्यायाम नहीं करवाना चाहिए। अजीर्ण या आमावस्था में व्यायाम नहीं करना चाहिए। बालक एवं वृद्धों में भी व्यायाम का निषेध है।

अति व्यायाम से हानि :अति व्यायाम करने से अरुचि, छर्दि, भ्रम, क्लम, तृष्णा, ज्वर, कास, श्वास, रक्त पित्त एवं क्षय हो सकता है। इसलिए अर्ध शक्ति व्यायाम करना चाहिए। यदि आवश्यक है तो व्यायाम की मात्रा अभ्यास के साथ धीरे-धीरे बढ़ाई जा सकती है और उससे कोई हानि नहीं होती।

साहस:अपनी शक्ति से अधिक व्यायाम करना साहस कहा जाता है और इसके कारण भयंकर रोग हो सकते है।

साहस के प्रकार :व्यायाम का खेल एक रोचक साधन है परंतु भारत और विश्व में बहुत सारे ऐसे क्रूर खेल हैं जो साहस के अंतर्गत आते हैं। खेलों को तीन श्रेणी में विभाजित किया जा सकता है जैसे साधारण खेल, क्रूर खेल और अतिक्रूर खेल। इनमें से साधारण खेल जैसे कबड्डी, खो:-खो, पहलवानी आदि में सुविधा अनुसार भाग लेना उत्तम व्यायाम प्रदान करता है। परंतु क्रूर खेलों में कभी भी भाग नहीं लेना चाहिए।

आयुर्वेदमेंसाहसकोराजयक्ष्मा (tuberculosis) का एक प्रमुख कारण माना है। इसके अंतर्गत क्रूर खेल आते हैं। अत: इन पर प्रतिबंध लगाने की आवश्यकता है। निम्नांकित क्रूर खेल साहस की श्रेणी में आते है।

क्रूर खेल:

दुर्बल व्यक्ति का बलवान व्यक्ति के साथ विग्रह

बहुत बड़े धनुष को चलाना

बहुत ज़ोर से बहुत बोलना

बहुत भारी बोझ उठाना

बहुत दूरी तक नदी में तैरना

शरीर पर पैरों से बहुत अधिक आघात करवाना

बहुत शीघ्र गति से बहुत लंबी दूरी तक दौड़ना

शरीर पर अधिक चोट खाना

इस प्रकार के अन्य विषम व्यायाम या कार्य करना

अतिक्रूरखेल : चरक ने क्षत क्षीण रोग के कारणों में कुछ ऐसे खेलों या कार्यों का उल्लेख किया है जो कि अति क्रूर खेल कहे जा सकते हैं। इन्हें अति साहस भी कहा जा सकता है। निम्नाकिंत

कार्य/खेल अतिक्रूर कहे जा सकते हैं। अपनी शक्ति से अधिक बल लगाकर धनुष की डोरी को अत्यंत या बार चढ़ाना। अपनी शक्ति से अधिक भार ढोना।अपने से अधिक बलशाली व्यक्ति के साथ युद्ध करना

दौड़ते हुए घोड़े या बैल या अन्य दमन करने योग्य पशु को रोकना। पत्थर, काठः-पत्थर आदि के टुकड़ों को अति ज़ोर लगाकर फेंकना या दूसरे को मारना। उच्च स्थान पर से या जमीन पर से किसी द्रुतगामी जैसे घोड़े या आजकल मोटर के साथ पूरे ज़ोर से दौड़ना। महानदी में तैरना। ऊंचे स्थान से गिरना या अधिक वेग से या अधिक मात्रा में ऐसे अन्य क्रूर कार्य करना।

उपसंहार : मात्रा पूर्वक व्यायाम अर्थात अर्ध शक्ति व्यायाम रोगियों को छोड़ कर हर वयस्क व्यक्ति को प्रतिदिन करना चाहिए। इससे स्वास्थ्य में वृद्धि होती है, रोग और वृद्धावस्था कम कष्टकारी होते हैं। ठंडे मौसम और वसंत ऋतु में व्यायाम प्रचुर मात्रा में किया जा सकता है परंतु ग्रीष्म, वर्षा और शरद ऋतु में व्यायाम अर्ध शक्ति से भी थोड़ा कम करना चाहिए। क्रूर खेलों में कभी भी भाग नहीं लेना चाहिए।

आयुर्वेद

डॉ. स्मिता दहिया

आयुर्वेद एक ऐसा विज्ञान, एक ऐसी धरोहर है जो हजारों वर्षों पूर्व ऋषियों-मुनियों ने हमें उपहार स्वरूप दी। इसे केवल चिकित्सा तक सीमित रखना एक भूल होगी। यह जीवन मूल्यों, स्वास्थ्य व जीवन जीने का संपूर्ण ज्ञान प्रदान करते हुए हमारे शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक स्तरों का न केवल भरण पोषण करती है बल्कि आगे किस तरह से उसे संतुलित रखना है, उसके लिए सच्चे मित्र की भांति पथप्रदर्शन भी करती है।

"आयुर्वेदयति बोधयति इति आयुर्वेदः"

जो शास्त्र (विज्ञान) आयु (जीवन) का ज्ञान कराता है, स्वस्थ व्यक्ति एवं आतुर (रोगी) के लिए उत्तम मार्ग बताने वाला विज्ञान है, वही आयुर्वेद है।

"स्वास्थस्य स्वास्थ रक्षणम्-आतुरस्य विकार प्रशमनम् च"

उद्देश्य- आयुर्वेद का उद्देश्य न केवल रोगी व्यक्ति के रोग को दूर करना है बल्कि इसके साथ-साथ स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य की रक्षा करना भी है।

हमारा शरीर पंच तत्वों से बना है और हर एक गतिविधि का असर न केवल शरीर पर पड़ता है बल्कि उसके साथ-साथ मन पर भी माना गया है। इसी कारणवश शारीरिक रोगों का प्रभाव मन पर पड़ता है और मानसिक रोगों का प्रभाव शरीर पर तो सभी रोग मनो-दैहिक मानते हुए चिकित्सा की जाती है।

यह इतनी गूढ़, मार्मिक चिकित्सा पद्धति है जिसमें पंक्ति के बल एवं उनकी पाचन शक्ति के अनुसार एक ही रोग होने पर भी अलग-अलग रोगियों की चिकित्सा व औषधियों में भिन्नता पाई जाती है।

इसमें जितना स्थान व महत्व चिकित्सा को दिया गया है उतना ही आहार व विहार को भी। व्यक्ति के व्यावहारिक पक्ष के मार्गदर्शन के लिए जहाँ 'आचार रसायन' वर्णित है वहीं विहार के लिए दिनचर्या व ऋतुचर्या का ज्ञान भली प्रकार से दिया गया है।

इसके साथ-साथ आहार पर भी पूर्ण बल दिया गया है। कुछ पदार्थ तो ऐसे हैं जो सभी रोगों में दिए जा सकते हैं और स्वस्थ व्यक्ति भी उन्हें सेवन करके अपने स्वास्थ्य का संरक्षण कर सकता है जैसे-गेहूँ, मूंगदाल, (छिल्के समेत), लौकी, तोरी, कच्चा पपीता, गाजर, टिंडा, पत्तागोभी, करेला, परबल, पालक, हरी मेथी, अंकुरित अन्न, सहजन की फली, सेमल की कच्चे फूल की सब्जी, हरी मिर्च व अदरक अल्प मात्रा में। गाय का दूध व घृत अन्यथा भैंस का भी उपयोग में ले सकते हैं।

फलों में वृक्ष के पके सेब, पपीता, चीकू, अनार, अमरूद, जामुन, मौसमी। सूखे फलों में काजू, बादाम, मुनक्का, किशमिश, अंजीर, चिलगोजा, छुआरा, मखाना, खजूर।

आयुर्वेद सही मायनों में पथ-प्रदर्शक के साथ-साथ, एक सच्चा सहचर भी है जो न केवल अपनी जड़ों की भाँति व्यक्ति को स्वस्थ व बल देकर उनकी जड़ों को सशक्त बनाता है, साथ के साथ जीवन को संतुलित कर उसे अमृत तुल्य भी कर देता है।

हरिद्रा द्वारा असाध्य व्याधियों की चिकित्सा

डॉ. अनिलकुमार सिंह भदौरिया
रोग निदान एस के एस आयुर्वेद मेडीकल कॉलेज मथुरा, (उ. प्र.) प्राचार्य एवं विभागाध्यक्ष

डॉ. भीमसेन बेहेरा
वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी (आयुर्विज्ञान)
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली

हरिद्रा एक बहुवर्षीय क्षुप है जो 2-3 फीट ऊँचा होता है। इसका कांड ह्रस्व पत्र आयताकार, 1.5 फीट से 2 फीट तक लंबे लगभग 6' इंच चौड़े होते हैं। इसकी पत्तियाँ दोनों पृष्ठ पर चिकनी होती हैं व इनमें आम्र के समान गंध आती है। इसके पुष्प पीतवर्णी होते हैं जिनका आगमन शरदऋतु में होता है।कंद जिनका प्रयोग औषध व मसाले में होता है आर्द्रक के सदृश पर उससे बड़े होते हैं।

भारतवर्ष के अधिकांश भाग में हरिद्रा की खेती होती है पर सबसे श्रेष्ठ हरिद्रा का उत्पादन महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु में होता है। इन्हीं राज्यों में इसका व्यावसायिक उत्पादन भी किया जाता है। सामान्य जन इसे आहार का अभिन्न अंग मानते हुए करीब प्रतिदिन सब्जी एवं दालोंतथा समस्त आमिष व सामिष भोजन में मसाले का एक घटक मानते हुए प्रयोग करते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप का जनमानस हल्दी के बिना आहार की कल्पना भी नहीं करता। वह उसको स्वास्थ्य के लिए लाभकारी मानते हुए परंपरा से प्रयोग तो करता है, पर यह एक चमत्कारिक औषध भी है ऐसा कुछ व्यक्तियों को ही ज्ञात है। भारतवर्ष में करीब 3 हजारवर्ष से उसके औषधीय प्रभाव का ज्ञान आचार्यों को रहा है। उसके औषधीय गुणों का उल्लेख चरक संहिता में मिलता है जो करीब 3000 वर्ष पूर्व रचित कार्यचिकित्सा का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ माना जाता है। इसके अतिरिक्त हरिद्रा सदियों से वर्ण प्रसादन के लिए एक उत्तम औषधि मानी जाती रही है। त्वचा के ऊपर लगातार उसका लेप त्वचा की आभा बढ़ाता है व त्वचा को गौर वर्ण प्रदान करता है। हरिद्रा के उसी गुण के कारण पूरे भारतवर्ष में शादी से पहले दूल्हा व दुल्हन के वर्ण प्रसादन हेतु हल्दी का लेप कई दिन तक लगाया जाता है।

आयुर्वेद के ग्रंथों में हल्दी (हरिद्रा) के रस, गुण, वीर्य, विपाक, कर्म एवं प्रभाव का निर्धारण आचार्यों ने निम्न प्रकार से किया है :-

हरिद्रा का रस गुणादि

रस- तिक्त, कटु; विपाक- कटु; वीर्य-उष्ण;

गुण-रुक्ष, लघु; दोषहर कर्म-कफ वात हर

रासायनिक संगठन

हरिद्रा में उड़नशील तैल 5-8 प्रतिशत, विटामिन 'ए', प्रोटीन 6.3 प्रतिशत, स्नेहद्रव्य 5.1 प्रतिशत, खनिज द्रव्य 3.5 प्रतिशत तथा कार्बोहाइड्रेट 69.4 प्रतिशत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रमुख कार्यशील घटक के रूप में उसमें करक्यूमिनाड्स, करक्यूमिन, साइक्लो करक्यूमिन एवंवाइसडिमिथोक्सी करक्यूमिन नामक तत्व है। इसके तैल में curcumen नामक टरपेन होता है जिससे उसमें कर्पूर के समान गंध आती है।

हरिद्रा पर आधुनिक शोध

आधुनिक वैज्ञानिकों ने भारतीय मूल के लोगों द्वारा हल्दी के नित्य प्रयोग को देखते हुए उसके वैज्ञानिक अनुसंधान में रुचि लेना शुरु किया। हरिद्रा के ऊपर किएगए गहनशोध में वैज्ञानिकों ने पाया कि करक्यूमिन नामक क्षाराभ हरिद्रा के प्रमुख चिकित्सीय गुणों का कारक है। वैज्ञानिकों ने करक्यूमिन में सर्वप्रथम ' एन्टीऑक्सीडेन्ट' गुण की खोज की। जो द्रव्य' एन्टीऑक्सीडेन्ट' होते हैं, वे नष्ट शरीर में फ्री रेडीकल का निर्माण रोकने में सहायक होते हैं। शरीर में फ्री रेडिकल का निर्माण व्याधियों को उत्पन्न करता है। हमारे शरीर में कोशिकाओंकी संरचना खरबों में होती है। फ्री रेडीकल्स दूसरे अणुओं से इलेक्ट्रोन चुराने की कोशिश करते हैं जिससे कोशिका के दूसरे अणुओं एवं डी. एन. ए. को हानि पहुँचती है। इसके परिणाम स्वरूप गंभीर व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। वास्तव में जब शरीर में भोजन ऊर्जा में बदलता है तब इस प्रक्रिया स्वरुप कुछ फ्री रेडिकल्स का निर्माण होता है। ये फ्री रेडिकल्स अलग – अलग आकार व रासायनिक संगठन के होते हैं और विभिन्न व्याधियाँ उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। हरिद्रा का एन्टीऑक्सीडेन्ट गुण फ्री रेडीकल्स के प्रभाव से कोशिकाओं की रक्षा करता है।

आयुर्वेदानुसार हरिद्रा के कर्म व प्रयोग

हरिद्रा उष्ण, उत्तेजक, सुगंधित, रक्तशोधक, त्वक्दोषहर, दीपन, ग्राही, कफघ्न, वातहर, विषघ्न एवं व्रण के लिए लाभप्रद है।

इसका उपयोग प्रतिश्याय, कफविकार, चर्मरोग, रक्तविकार, प्रमेह, कामला, यकृत् विकार, ज्वर, अतिसार, संग्रहणी, व्रण एवं नेत्राभिष्यंद में किया जाता है।

1. प्रतिश्याय, खांसी, प्रमेह, प्रदर एवं नेत्राभिष्यंद आदि रोगों में जिनमें श्लेष्मा का अत्यधिक स्राव होता है, उसको दूध में उबालकरगुड़ पिलाते हैं। प्रतिश्याय की प्रारंभिक अवस्था में रात के समय इसके धुएँ को नाक से सुंघाते हैं तथा कुछ देर बाद जल पीने को देते हैं। खाँसी में इसका भून कर 1-2 ग्रा. मधु या घृत के साथ चटाने से लाभ होता है।

2. आँवले का रस, हल्दी एवं मधु मिलाकर देने से सभी प्रकार के प्रमेहों एवं मधुमेह में उत्तम लाभ प्राप्त होता है। प्रदर में इसके साथ गुग्गुल या रसांजन का प्रयोग लाभप्रद होता है।

3. खुजली, पामा, दद्रु, शीतपित्त, फोड़े एवं विचर्चिका आदि रक्तविकारों में एवं चर्मरोगों में हल्दी को मक्खन के साथ मिलाकर स्थानीय लेप करना चाहिए। इसके विशेष योग हरिद्राखंड को 10 ग्रा. की मात्रा में नित्य दुग्ध के साथ लेने से शीतपित्त में शीघ्र लाभ प्राप्त होता है।

4. मोच, ऐंठन, चोट या पिच्चित व्रण एवं पुराने घावों पर 'चूना' या सज्जीक्षार के साथ लगाने से बहुत लाभ होता है।

5. सभी प्रकार के नेत्राभिष्यंद में एक भाग हल्दी को 20 भाग जल में उबालकर, छानकर आँख में बार-बार डालने से वेदना शांत होती है, तथा कीचड़ का निकलना कम होता है।

6. शिरःमूल तथा जोंक के काटने पर रक्तप्रवाह को रोकने के लिए उसका लेप लाभदायक है। चक्कर आने पर ताजा हल्दी का लेप सिर पर लगाना लाभप्रद है।

7. शोथयुक्त अर्श पर हरिद्रा व घृतकुमारी के गूदे का स्थानिक लेप शोथ एवं वेदना को शांत करता है। दग्धव्रणों पर हल्दी एवं घृतकुमारीस्वरस लगाने से छाले नहीं पड़ते हैं एवं दग्ध का निशान भी त्वचा पर नहीं पड़ता है।

8. भगंदर या अर्श चिकित्सा के लिए प्रयुक्त क्षारसूत्र पर व्रण रोपण हेतु इसका लेप लगाया जाता है।

करक्युमिन का औषधीय प्रभाव

आधुनिक वैज्ञानिकों ने पाया कि हरिद्रा में उपस्थित करक्यूमिन नामक घटक ही सबसे ज्यादा प्रभावी है, अतः चिकित्सीय शोध में उन्होने करक्यूमिन की चिकित्सीय क्षमता को ध्यान में रखकर विस्तृत शोध किया। यह शोध सार्वदेहिक व विशेष अंग पर और विशेष व्याधि पर करक्यूमिन की कार्मुकता को ध्यान में रखकर किया गया।इस अध्ययन में पाया गया है कि करक्यूमिन शोथ, अल्सर, कर्क व्याधि, कवक नाशक (एन्टीफंगल), एन्टीमाइक्रोबियल, यकृतव्याधि प्रतिरोधक, मधुमेह, प्रमेह, गठिया, अल्जाइमर व अन्य जीर्ण एवं दु:साध्य व्याधियों को हरने वाली औषध है। इसके अतिरिक्त अध्ययन में यह भी पाया गया कि करक्यूमिन ऑक्सीकृत तनाव शोथजन्य व्याधियों, थक्काजनित व्याधियों में अत्यधिक प्रभावी है। लंबे समय तक इसका प्रयोग प्रभावी चिकित्सीय श्रमता रखने के बावजूद बहुत ही अल्प विषाक्तता उत्पन्न करता है। निम्न व्याधियों पर करक्यूमिन के प्रभाव का विस्तृत अध्ययन किया गया।

(1) **कैन्सर चिकित्सा:** कैन्सर जैसा कि सभी जानते हैं कि एक दु:साध्य एवं एक अवस्था विशेष के बाद असाध्य व्याधि है। इसके अतिरिक्त इसकी चिकित्सा करते हुए रोगी के शरीर में बहुत-सी कष्टकारी स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है।इन्हीं जटिलताओं की वजह से दुनियाभर के वैज्ञानिक कैन्सर के उपचार हेतु शोधरत हैं। इसी क्रम में करक्यूमिन के कैन्सर नाशक गुण को 1987 में सर्वप्रथम कुट्टन व अन्य ने अपने शोध में प्रभावी पाया। इस अध्ययन को उन 62 रोगियों के ऊपर किया गया जो त्वचा या व्रण युक्त बाह्य कैन्सर से पीड़ित थे। शोधकर्ताओं की इस टीम ने इन रोगियों के व्रणों पर करक्यूमिन के लेप का प्रयोग किया। यह लेप विभिन्न माध्यमों का प्रयोग करके क्रीम, जेल इत्यादि रूप में किया गया और यह पाया गया कि करक्यूमिन का लेप लगाने से कैन्सरजन्य व्रणों में पाई जाने वाली दुर्गंध में अत्यधिक कमी हुई। इसके अतिरिक्त व्रण की कंडू उसका माप व शूल में अत्यधिक लाभ हुआ। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि करक्यूमिन को कैन्सर जन्यव्रण के उपचार में प्रभावी पाया गया है। इस शोध में करक्यूमिन को इन रोगियों पर सिर्फ बाह्य प्रयोग हेतु ही प्रयोग किया गया। इस शोध ने करक्यूमिन का कैन्सर जनित ऊतकों पर प्रभाव प्रमाणित किया।

इलीनॉस इन्जीनियरिंग कॉलेज, अमेरिका ने कैन्सर की चिकित्सा में करक्यूमिन प्रभावी हो सके इसके लिए करक्यूमिन को मरीज के शरीर में दवा पहुँचाने वाली एक नई पद्धति का विकास किया। इस संस्थान के वैज्ञानिकों ने पाया कि हालांकि करक्यूमिन की कैंसर प्रतिरोधी शक्ति से अब चिकित्सा वैज्ञानिक अच्छी तरह से परिचित हो गए हैं पर इसके पूर्ण प्रभाव का इस्तेमाल करक्यूमिन की पानी में पूर्ण घुलनशीलता न होने से नहीं किया जा पा रहा था।

जब किसी द्रव्य को चिकित्सा के लिए प्रयोग किया जाता है तो उसके पूर्व अध्ययन में यह देखा जाता है कि उस द्रव्य की जल में घुलनशीलता कितनी है क्योंकि जल में घुलनशील न होने पर वह द्रव्य व औषध शरीरकेरक्त में संचरित नहीं हो पाती जिससे वह शरीर के अंगोंव ऊतकों में नहीं पहुँच पाती।इस अध्ययन में इलिनॉस कॉलेज ऑफ इन्जीनियरिंग के श्री पेन, मिश्रा एवं अन्य ने यूटा यूनिवर्सिटी अमेरिका के रसायन शास्त्र के प्रोफेस पीटर स्टेंग के साथ मिलकर करक्यूमिन को जल में घुलनशील एवं उसको कैन्सर कोशिकाओं तक पहुँचाने की पद्धति को विकसित किया। इस टीम ने करक्यूमिन की घुलनशीलता को बढ़ाने के लिए प्लेटिनम का प्रयोग कर एक मेटलोसाइक्लिक कॉम्प्लेक्स का निर्माण किया। इस प्रयोग को करने वाली टीम को ज्ञात था कि प्लेटिनम को कैन्सर चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है व इस अध्ययन को इस जिज्ञासा से किया गया कि क्या करक्यूमिन का प्रयोग कर अतिरिक्त कार्मुकता को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रयोग ने सिद्ध किया कि करक्यूमिन कैन्सर सेल के अतिरिक्त उन स्टेम सेल्स को भी नष्ट करने में सहायक है जो शरीर में कैन्सर कोशिकाओं के नष्ट हो जाने पर भी पुनः कैन्सर व्याधि को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं।

करक्यूमिन की विभिन्न रोगों की चिकित्सा में भूमिका

1. प्रतिकारी ऑक्सीजन क्रिया

करक्यूमिन रिएक्टिव ऑक्सीजन स्पिसीज (आर ओ एस) एवं प्रतिक्रियाशील नाइट्रोजन को शरीर से हटाने में एक प्रभावी द्रव्य है।

2. एन्टीऑक्सीडेन्ट क्रियाशीलता

करक्यूमिन की एन्टीऑक्सीडेन्ट क्रिया की पुष्टि करक्यूमिन द्वारा स्टाइरीन ऑक्सीडेशन का निर्माण प्रयोग द्वारा रोकने से हुई। करक्यूमिन कि कैन्सर प्रतिरोधक श्रमता उसके एन्टी

ऑक्सीडेन्ट गुण के कारण ही होती है। इस क्रिया द्वारा यह डी ऑक्सीराइबोन्यूक्लिक एसिड (डी. एन. ए.) क्षति को रोकता है और फ्री रेडिकल का निर्माण बाधित करता है।

3. मधुमेह या डाइबटीज प्रतिरोध

हरिद्रा कंद में डाइबटीज प्रतिरोधी गुण होता है। प्रयोगों से सिद्ध हुआ है कि इसका एल्कोहलीय सत्त्व रक्त में शर्करा की मात्रा कम करने की क्षमता रखता है।

4. शोथरोधी गुण

चूहों पर किए गए अनुसंधान ने नवीन व जीर्ण शोथ पर करक्यूमिन के शोथहर गुण की पुष्टि की। करक्यूमिन शोथ के स्थान पर न्यूट्रोफिल अत:सरण क्रिया को कम करके शोथ को रोकता है।

5. माइक्रोब प्रतिरोधी गुण एम. आई. सी. के साथ

करक्यूमिन ने मेथिसिलिन रेजिस्टेन्ट स्टेफाइलोकोकस ऑर्यस (एम आर एस ए) पर प्रतिरोधी क्रिया को प्रदर्शित कर माइक्रोब रोधी गुण की पुष्टि की है।

6. व्रणरोधी गुण

इन्डोमेथासिन का प्रयोग कर उत्पन्न किएगए गेस्ट्रिक अल्सर पर करक्यूमिन ने व्रणरोपण कर या गेस्ट्रिक अल्सर की उत्पति में बाधा डालकर व्रणरोधी गुण को सिद्ध किया है।

7. आमाशय व्रणरोधी गुण

करक्यूमिन का प्रयोग आमाशय की भित्तियों में व्रण को उत्पन्न करने से रोकता है। करक्यूमिन का यह गुण एक्यूट गेस्ट्रिक अल्सर व्याधि में पुष्ट हुआ।

8. यकृत् संरक्षक

करक्यूमिन की 200mg/मि.ग्रा. मात्रा 4 दिन तक देने से चूहों में डायमिथाइल नाइट्रोसामाइन (डी एम एन) द्वारा यकृत् संघात के लक्षण परिलक्षित नहीं हुए व यकृत् में हेमी ऑक्सीजिनेज-1(एच

ओ-1 प्रोटीन) की मात्रा उसके बाद तीन गुणा बढ़ गई जो उसके यकृत् संरक्षक गुण की पुष्टि करती है।

9. हृदयसंरक्षक

हिस्टोन एसीटाइल ट्रान्सफेरेजपी 300(पी 300 एच ए टी) नामक रसायन जो कि हृदय घात के लिए प्रारंभिक रूप से जिम्मेदार है, करक्यूमिन इसका निर्माण रोककर हृदय संरक्षण में सहायक है अत: यह हृदय संरक्षक है।

10. तंत्रिका संरक्षक

करक्यूमिन ऑक्सीजन ग्लूकोज डेप्रीवेशन/रीपरफ्यूजन (ओ जी डी/ आर) का स्रवण करके एवं ओ जी डी द्वारा उत्पन्न कोशिका घात का प्रतिरोध कर कॉर्टिकल न्यूरोन को क्षतिग्रस्त होने से बचाता है। इस तरह यह एक उत्तम तंत्रिका संरक्षक या न्यूरोप्रोटेक्टिव है।

11. स्थौल्य रोधी

एडीपोज ऊतकों से एन्जियोजेनेसिस प्रकिया का शिथलीकरण करके करक्यूमिन कोशिका स्तर पर एवं सार्वदेहिक स्तर पर स्थौल्यता को रोकता है या बाधित करता है। इस प्रकार स्थौल्य रोधक गुण से युक्त होता है।

12. उच्चरक्तचाप शामक

करक्यूमिन ने प्रयोगों द्वारा उच्चरक्तचाप शामक प्रभाव की पुष्टि की है।

13. कैन्सर प्रतिरोधी गुण

करक्यूमिन फेज दो एन्जासइम्स जैसे ग्ल्यूटाथियोन एस ट्रान्सफेरेज (जी.एस.टी.) की क्रियाशीलता को बढ़ाकर एवं पेरोक्जीसोम प्रोलिफिरेटर (पी पी ए आर) की उत्पत्ति को वेस्क्युलर एन्डोथीलीयक ग्रोथ फैक्टर (वी ई जी एफ) द्वारा बाधित करके कॉलोन कैन्सर को उत्पन्न होने से रोकता है।

14. श्वसनतंत्र संस्थान व प्रभाव

करक्यूमिन प्रभावी रूप से ट्यूमर नेक्रोसिस फेक्टर(टी.एन. एफ) के स्राव को बाधितकर या कमकर श्वसन एवं रक्तवाह संस्थान को प्रभावित करता है।

15. मलेरियारोधी

मलेरिया परजीवी से संक्रमित चूहों में करक्यूमिन को मुख मार्ग से देने पर मलेरिया के परजीवी की संख्या 80-90% की कमी पाई गई।

16. वृक्कजन्यविषाक्ता रोधी प्रभाव

मधुमेह जन्य व़क्क शोथ में यह वृक्क विषाक्तता रोधी प्रभाव उत्पन्न करता है।

अत: हम कह सकते हैं कि आहार के साथ-साथ हरिद्रा एक चमत्कारिक औषध है। इसका नित्य प्रयोग हमें स्वस्थ रखने में व कठिन व्याधियों से बचाने में सहायक होता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को करीब 10ग्रा. की मात्रा में रोज इसे दूध या अन्य स्नेह माध्यम, में मिलाकर प्रयोग करना चाहिए ताकि लंबे समय तक स्वास्थ्य लाभ मिल सके।

पंचकर्म : एक व्यवस्थापक चिकित्सा

डॉ. पूजा रानी
पी.जी. अध्येत्री, द्वितीय वर्ष, पंचकर्म विभाग,
चौ. ब्रह्मप्रकाश आयुर्वेद चरक संस्थान, खेड़ा डाबर,नई दिल्ली-110073
डॉ. सुवास साहु
सह-प्रध्यापक, द्रव्य गुण विभाग,
चौ. ब्रह्मप्रकाश आयुर्वेद चरक संस्थान, खेड़ा डाबर, नई दिल्ली-110073

सांराश

"आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति में शोधन व शमन चिकित्सा दोनों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। पंचकर्म शोधन चिकित्सा के अंतर्गत आता है जिसके द्वारा शरीर में बढ़े हुए दोषों को शरीर से बाहर निकाला जाता है"

पंचकर्म में मुख्य पांच कर्म वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य व रक्तमोक्षण है।वर्तमान में पर्यावरण में शरीर को स्वस्थ बनाए रखना अत्यंत आवश्यक है समय-समय पर बढ़े हुए दोषों को निकालना जरूरी है। पंचकर्म चिकित्सा के द्वारा आसान कर्मों के द्वारा शरीर का शोधन व कायाकल्प किया जाता है। यह रोगी को अस्पताल में भर्ती कर के किया जाता है तथा प्रतिदिन भी आयुर्वेदीय चिकित्सक की सलाह के द्वारा प्रयोग स्वप्रतिरक्षित व्याधियों (जैसे गलगंड), मनोरोग, लकवा रोग, जोड़ों व हड्डी के रोग, मधुमेह, उच्च रक्तचाप, मोटापा व त्वचा के रोगों में प्रयोग किया जाता है।

महत्वपूर्ण शब्द- आयुर्वेद, पंचकर्म, शोधन, शमन।

विषय प्रवेश : आयुर्वेदीय चिकित्सा के तीन स्तर हैं; पहला निदान परिवर्जन जैसे यदि किसी रोगी ने कोई ऐसे हेतु (कारण) का सेवन किया है जिससे वह रोग बढ़ रहा है, तो पहले उसको रोकना, नहीं तो रोगी कितनी भी औषधि का सेवन करे, वह रोग ठीक नहीं होगा। दूसरा शमन चिकित्सा, जिसमें रोग बढ़ गया हो तो उसे औषध देकर ठीक करना, जैसे बुखार होने पर ज्वरनाशक औषध प्रयोग करना। तीसरा शोधन चिकित्सा है जिसमें यदि रोग बार-बार दवाइयाँ देने पर ठीक ना हो या बढ़े हुए दोष हों तो उनको शरीर से बाहर निकलना।[1]

आचार्य कहते हैं जब प्रकुपित दोषों का लंघन, पाचन, औषध आदि देने पर वह रोग तत्काल के लिए ठीक हो जाता है परंतु उसके दुबारा उत्पन्न होने की संभावना होती है क्योंकि ऐसा हो सकता है

कि वह अल्प बल रोग हो किंतु वह पुनः तीव्र रूप से उत्पन्न हो सकता है। लेकिन एक बार यदि शोधन के द्वारा बढ़े हुए दोषों को निकाल दिया जाता है तो वे समूल नष्ट हो जाते है और उनके पुनः उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती है।[2]

पंचकर्म में शोधन चिकित्सा में पाँच कर्म आते है; वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य व रक्तमोक्षण। कुछ आचार्य रक्तमोक्षण को पाँचवाँ कर्म नहीं मानते लेकिन सामान्यतः पंचकर्म में रक्तमोक्षण को प्रायः गिना जाता है। पंचकर्म में केरलीय पंचकर्म व अन्य कर्म का समावेश होता है। जैसे अभ्यंग (तैल की मालिश करना), (उद्वर्तन जौ के चूर्ण से शरीर पर रगड़ना) सर्वंगधारा (पूरे शरीर पर तैल की धारा गिराना), शिरोधारा (शिर पर तैल की धारा को गिराना), कटिबस्ति(कमर पर उड़द की दाल से घेरा बनाकर तैल से भरना), ग्रीवा बस्ति (गर्दन पर),जानु बस्ति (घुतनों पर), पोट्टली स्वदेन (जिसमें पत्तों को काटकर पोट्टली से स्वेदन करना), शिर पर लेप करना, अक्षितर्पण(आखों के आगे घेरा बनाकर घी डालना) आदि।

पंचकर्म में शोधन के लिए तीन कर्म है, पूर्वकर्म, प्रधानकर्म व पश्चात कर्म।[3]

पूर्वकर्म

पाचन : इसके द्वारा आम (अपक्व अन्न रस) का पाचन करते है लेकिन अग्नि की वृद्धिनहीं होती है, जैसे कोई कच्चा या अधपकाना अन्न होता है उसे जब आग पर पाक करते हैं तो पूरी तरह पक जाता है ठीक वही काम पाचन द्रव्य करते हैं। जैसे हरड़, चीता के मूल, मोथा हल्दी, आँवला, बहेड़ा आदि। [4]

दीपन : दीपन में अग्नि को बढ़ाया जाता है इसमें जठराग्नि वृद्धि होती है, क्योंकि हमें पता है कि प्रतिदिन स्नेह मात्रा को बढ़ाकर रोगी को स्नेह पिलाया जाता है और यदि अग्नि की वृद्धि नहीं होगी तो ठीक प्रकार से स्नेह पीने की क्षमता नहीं रहेगी इसलिए पहले पाचन देकर फिर अग्नि दीपन किया जाता है फिर स्नेहपान शुरु करते हैं।

पाचन व दीपन क्यों जरूरी है - दोषों को शरीर से बाहर निकालने से पहले उसका पक्व होना जरूरी है क्योंकि कच्ची अवस्था में दोषों को शरीर से बाहर निकालते हैं तो वे शरीर का नाश करते हैं।

शास्त्र में लिखा है कि जैसे कच्चे फल से रस निकाला जाए तो फल का नाश होता है ठीक उसी प्रकार शरीर में भी ऐसा समझना चाहिए। [6]

स्नेहन : स्नेहन कर्म से शरीर स्निग्ध होता है, दोषों का विलयन होता है, शरीर में मृदुता आती है, चिकनापन उत्पन्न होता है। यह बढ़ी हुए वायु को शांत करता है व बंधे हुए मल का नाश करता है।[7] स्नेहन के लिए तिल तैल, एरण्ड तैल, बिभीतका का तैल[8] घी, वसा (चर्बी) आदि प्रयोग में आते है। सामान्यतया तिल के तेल, सरसों के तेल व घी का प्रयोग करते हैं। कुछ रोगों में औषध सिद्ध घी भी पिलाते हैं जैसे चर्म रोगों में पंचतिक्त घी व महात्रिफला घी आदि। शोधन के लिए स्नेहपान कराना हो तो घी का मुख्यत: प्रयोग करते हैं। शमन के लिए वात शामक तैल का प्रयोग करते हैं। जहाँ जकड़ाहट हो, जोड़ों का दर्द में, हड्डी के दर्द में तैल से मालिश की जाती है जिससे रोगी को लाभ मिलता हैं।

स्वेदन: स्वेदन के द्वारा शरीर की जकड़ाहट, शरीर की गुरूता व शीतता का नाश होता है[9] .यह शरीर में पसीना लाता है। यह अग्नि के प्रयोग से व निरिग्न भेद से दो प्रकार का होता है। इसमें रोगी के शरीर पर पहले हल्के गर्म तैल से मालिश करते हैं फिर स्वेदन बॉक्स या नाड़ी स्वेद से शरीर का स्वेदन तब तक करते हैं जब तक रोगी को ठीक प्रकार से पसीना ना आ जाए। इसका प्रयोग लकवा के रोगियों में, जोड़ों व हड्डी के दर्द जहाँ जकड़ाहट हो और शोधन कर्म कराने से पूर्व करते हैं।

पूर्वकर्म के लाभ : पूर्वकर्म में पाचन क्रिया से दोषों का पाक होता है, दीपन से जठराग्नि बढ़ती है, स्नेहन के द्वारा दोष अपनी मात्रा से अधिक बढ़ते हैं, व स्वेदन से दोष पिघलकर कोष्ठ में आते हैं जहाँ से उन्हें निकालना आसान हो जाता है। [10]

आचार्य कहते हैं जिस प्रकार सूखी लकड़ी को यदि मोड़ने की कोशिश करें तो वह टूट जाती है ठीक उसी प्रकार यदि बिना स्नेहन व स्वेदन के शोधन करें तो शरीर का ह्रास होता है। [11]

प्रधानकर्म

वमन : वमन को सामान्य भाषा में उल्टी कराना कहते हैं। वमन कर्म के द्वारा बढ़े हुए दोषों को मुख मार्ग से बाहर निकाला जाता है। [12] वमन कर्म में पहले रोगी को घी पिलाया जाता है। इसमें तीन दिन, पाँच व सात दिन रोगी के कोष्ठ को देखकर घी पिलाते हैं। फिर वमन के दिन पहले पूरे शरीर की मालिश व सिकाई करते हैं ताकि दोष पिघलकर कोष्ठ में आए। शाम को कफवर्धक आहार जैसे (दही,

खीर, हलवा, उड़द की दाल) देते हैं। अगले दिन रोगी को खाली पेट रखते हैं व उसका पहले स्नेहन स्वेदन कराते हैं। उसके बाद दूध, इक्षु रस यवागू से आकंठ पान कराते हैं फिर वामक द्रव्य जैसे मदनफल पिप्पली का कल्क देते हैं।उसके एक मुहूर्त के अदंर रोगी को उल्टी होनी शुरु हो जाती है। उसके बाद उसे मधुयष्टी फाण्ट देते हैं व अंत में लवणोदक देते हैं जब तक शुद्धि ना हो। रोगी को लघुता ना लगे, पित दर्शन ना हो, व हृदय में उत्क्लेश शांत ना हो जाए। फिर उसे धूमपान कराके विश्राम करने को कहते हैं व शुद्धि के अनुसार पेयादि का पालन करने को बताते हैं। वमन कर्म का प्रयोग चर्मरोग, एककुष्ठ, मोटापा, अस्थमा, गलगंड रोगों में, चेहरे पर कील मुहांसे अधिक हों या अम्लपित्त जैसे रोगों में करते हैं। कफ यदि बढ़ा हो तो वमन कर्म श्रेष्ठ है।[13]

विरेचन- विरेचन कर्म को सामान्य भाषा में दोषों का गुदा से बाहर निकालना कहते हैं- विरेचन कर्म के द्वारा बढ़े हुए दोषों को अधोभाग से निकाला जाता है। विरेचन में वमन की ही तरह पहले घी पिलाते हैं फिर इसमें तीन दिन विश्राम काल होता हैं और तीनों दिन रोगी को अभ्यंग व स्वेदन कराते हैं व यूष, दाल व सामान्य भोजन जो कफ दोष को ना बढ़ाए खाने को कहते हैं। विरेचन वाले दिन अभ्यंग व स्वेदन कराकर खाली पेट विरेचक द्रव्य देते हैं। जैसे हरड़, बहेड़ा, जयपाल, दंती, अमलतास, त्रिवृत, सनाय व स्नुही के किसी भी कल्प का प्रयोग कर सकते हैं। विरेचन को चर्मरोगों में, रक्तपित(उर्ध्व), मधुमेह, उदर रोग, पेट में कीड़े होने पर, कामला रोग, शरीर पर लाल चकत्ते बार-बार हो जाएँ, मोटापे में देते हैं। जहाँ पित्त बढ़ा हुआ हो वहाँ विरेचन श्रेष्ठ है।

बस्ति- बस्ति कर्म में 'बस्ति यंत्र' के द्वारा शरीर में दवाई डालते है। बस्ति क्वाथ आदि द्रव्य से या तैल से देते हैं। जब काढ़े आदि द्रव्य के द्वारा बनाकर दी जाती है; उसे खाली पेट देते हैं और यह सुबह- सुबह दी जाती हैं। इसे ही आस्थापन या निरुह बस्ति कहते हैं। जब इसे तैल के द्वारा देते हैं तब इसे रोगी को कुछ खिलाकर देते हैं। इसे अनुवासन या स्नेह बस्ति कहते हैं। वायु के विकारों को शांत करने के लिए बस्ति से श्रेष्ठ कोई चिकित्सा नहीं है। इसलिए इसे आधी चिकित्सा कहते हैं मतलब केवल बस्ति को भी वैद्य लोग मरीजों को दें तो आधी चिकित्सा तो इसी से हो जाएगी।[14]बस्ति के तीन भेद हैं:- जैसा अभी ऊपर बताया निरुह, अनुवासन व उत्तरबस्ति। उत्तरबस्ति में बस्ति अपत्यमार्ग से दी जाती है। इसमें कषाय द्रव्य व स्नेह द्रव्य दोनों का प्रयोग होता है। इसे मूत्र विकारों में, शुक्र दोषों में, गर्भाशय विकारों में देते हैं।

निरुह बस्ति में रोगी को सुबह खालीपेट लिटाते हैं व उसके पेट व कमर में मालिश करके सिकाई करते हैं फिर बस्ति पुटक को बस्ति नेत्र में बांध कर धीरे-धीरे गुद में प्रवेश कराकर देते हैं व रोगी को उकडु बैठने को कहते हैं। इसमें 48 मिनट के अंदर रोगी को टट्टी आ जाती है व द्रव्य दोष के कारण बाहर आ जाता है। इसको क्वाय में बनाते हैं व जब दूध के द्वारा बनाते हैं तो इसे यापना बस्ति कहते हैं। निरुह बस्ति जो प्रयोग में आती है वह हैदशमूलादि निरुह, बलादि निरुह, रास्नाएरंडादि यापना बस्ति जैसे मुस्तादि यापना, द्वितिय बलादि यापना, सहचरादि यापना आदि। वैतरण बस्ति, क्षार बस्ति में निरुह बस्ति के अंदर ही आते हैं जो आमवात (गठिया) रोग में देते हैं। इसी प्रकार पिच्छा बस्ति होती है जो ग्रहणी रोगों में, अतिसार में देते हैं। अनुवासन बस्ति जैसे ऊपर कहा गया है तैल के द्वारा दी जाती है यह मात्रा के अनुसार तीन प्रकार की होती है; स्नेह बस्ति, अनुवासन बस्ति व मात्रा बस्ति। इसमें मात्रा बस्ति में सबसे कम स्नेह गुद के रास्ते से देते हैं व इसका हर दिन प्रयोग कर सकते हैं। यह बस्ति खाने के बाद जब रोगी के हाथ गीले ही हों तभी तुरंत बुलाकर अभ्यंग व स्वेदन कर उसे देते हैं। अनुवासन बस्ति के उदाहरण द्रव्य हैं, महानारायण तैल, क्षीरबला तैल, बलाश्वगंधा लाक्षादि तैल व रोगों के अनुसार रोगनाशक तैल, बस्ति में जो तैल डालते हैंउसे पहले गर्म पानी के ऊपर रखकर हल्का गुनगुना करके उसमें थोड़ा सैंधा नमक व सोया पाउडर मिलाकर देते हैं।

बस्ति को खाली पेट या भर पेट दो प्रकार से देते हैं। वह दिन के अनुसार में कर्म, काल व योग बस्ति के नाम से कही जाती है जिसमें क्रम से 30, 16, व 8 बस्तियों में निरुह व अनुवसन का प्रयोग किया जाता है। [15]

नस्य- जब दोनों को नासा द्वार से औषध प्रयोग करके निकालते है, वह नस्य कहलाता हैं। इसमें कंठ प्रदेश से ऊपर के विकारों व कफज और वातकफज रोगों को ठीक किया जाता है। इसमें केवल द्रव्यों या द्रव्यों को स्नेह में सिद्ध कर नाक में डालते हैं। [16] इसे शिरोविरेचन, नावन आदि नाम से जानते हैं। यह पाँच प्रकार का होता है नावन, अवपीडन, ध्मापन, धूम व प्रतिमर्श। नावन में तैल का प्रयोग करते हैं। अवपीडन में द्रव्य को निचोड़कर नाक में डालते हैं। ध्मापन में एक यंत्र होता है उसे चूर्ण को नाक में फूँक मारकर डालते हैं। धूम नस्य में नासा द्वारा धूम को देते हैं। प्रतिमर्श में भी स्नेह ही डालते हैं पर उसकी मात्रा सिर्फ 2 बिंदु (अर्थात् 0.5ml) 1मि. ली. लगभग दोनों नाक में डालते हैं नस्य के लिए विभिन्न द्रव्य प्रयोग होते हैं जैसे स्नेह द्रव्य में अणुतैल, षड् बिंदु तैल, क्षीरबला तैल आदि अवपीडक में

दूर्वा स्वरस, प्याज का रस, वासा का स्वरस, उमापन में कट्फल, वचा आदि। धूम नस्य में एला, हरिद्रा, दालचीनी आदि द्रव्य प्रयोग कर सकते हैं। नस्य में रोगी जिसने तुरंत खाना न खाया हो उसे नासा पीठ पर बिठाकर पहले मुखाभ्यंग व स्वेदन देते हैं फिर नासा में औषध देते हैं इसमें औषध को हल्का गुनगुना करके दें फिर मुख में जो द्रव्य आए उसे थूक कराके बाद में कवल देते हैं। तत्पश्चात् धूमपान व फिर से स्वेदन देकर उसे विश्राम करने को कहते हैं। नस्य का प्रयोग शिरो के विकार में, मन्यास्तंभ (गर्दन में जकड़ाहट जब होती है), गले के रोग, आधे सिर के दर्द (अधकपारी), मुख के लकवे में, बोलने में दिक्कत हो, नाक से सांस लेने में दिक्कत हो इनके अलावा जहाँ भी वायु और कफ बढ़े हों तब प्रयोग करें।

रक्तमोक्षण - रक्तमोक्षण में कई ग्रंथों में पाँचवाँ कर्ममाना है इसलिए यहाँ इसका वर्णन किया जा रहा है। रक्तमोक्षण में शरीर के गंदे खून को निकालते है। यह शस्त्र के द्वारा व अशस्त्र द्वारा दो प्रकार का होता है जब शस्त्र का प्रयोग करतेहै तब सुई से या स्काल्प वेन नामक सुई आती है जिससे खून निकालते है। जब अशस्त्र कर्म से करना होता है तब जौंक शृंग एवं अलाबू का प्रयोग करते है। कम7 को करते समय ध्यान रखा जाता है कि ज्यादा मात्रा में खून ना निकाले वरना रोगी को बल की हानि हो सकती है इसके प्रयोग से शीघ्र ही विकार शांत होते है जैसे::- बढ़ी हुई वायु में, जहाँ सुन्नपन हो, सूजन में, हाथी पाँव(श्लीपद)विसर्प में, गृध्रसी में, चेहरे पर कील मुहाँसे में।

पश्चात् कर्म

पश्चात् कर्म में सबसे महत्वपूर्णसंसर्जन कर्म है व परिहार विषय।शोधन के बाद शरीर का बलकम होता है तो रोगी को सामान्य खाना न देकर कुछ आहार कल्पना देते हैं। उसे संसर्जन कर्म कहते हैं इससे अग्नि बढ़ती है।[17] इसमें शुद्धि के अनुसार सात दिन, पाँच दिन व तीन दिन अन्न कल्पना देते हैं। इसमें पेया, विलेपी, यूष, मांसरस फिर सामान्य भोजन देते हैं।[18] जो लोग शाकाहारी होते हैं उन्हें यूष ही दुबारा देते हैं। पेया माँड की तरह होता है जिसमें ज्यादा पानी व चावल कम होता है। विलैपी थोड़ी गाढ़ी होती है। यूष दाल में पानी डालकर बनाते हैं, व मांस रस में मांस व पानी डालकर पकाते हैं। जिन लोगों में दोष ठीक तरह से बाहर निकले व जो मद्यपान करते हों वातपित प्रकृति के हों उन्हें तर्पण कर्म देते हैं।[19] इसमें सत्तू का प्रयोग होता है या खर्जूर को पानी में मन्थ बनाकर देते हैं।

इसके बाद आता है परिहार विषय, ये आठ हैं- जैसे उच्च स्वर में ना बोलना, गाड़ी या वाहन की सवारी ना करना, अधिक नहीं चलना, एक ही जगह अधिक देर तक नहीं बैठना, अर्जीण (अन्नपच) का ना होना, अहितकर आहार नहीं खाना, दिन में नहीं सोना व मैथुन नहीं करना। [20]

पचंकर्म का महत्व

पंचकर्म आज के परिप्रेक्ष्य में तीन तरह से प्रयोग हो सकता है-

1. स्वस्थ लोगों में
2. रसायन औषध लेने से पहले
3. रोगों में जो प्रयोग करते हैं।

1. स्वस्थ व्यक्तियों में : स्वस्थ लोगों मे पंचकर्म का प्रयोग करने से वह रोगों को उत्पन्न नहीं होने देता। शरीर में बल व चेहरे की सुंदरता को बढ़ाता है। इसलिए दिनचर्या, ऋतुचर्या में पंचकर्म का प्रयोग बताया है जैसे, अभ्यंग, शिर की मालिश, नाक में तैल डालना, कान में तैल डालना, शिर पर रुई का फहा रखना (शिर पर तैल धारण), स्वेदन। वंसत में वमन व शरद ऋतु में विरेचन और रक्तमोक्षण आदि कर्म करना हितकर होता है।

2. रसायन प्रयोग से पहले: रसायन सेवन से पहले पंचकर्म जरूरी है क्योंकि गंदे वस्त्र पर रंग ठीक तरह से नहीं लगता उसी प्रकार शरीर शुद्ध ना हो तो औषध का फायदा नहीं होता है। [21] यहाँ तक कि जब भी शरीर में दोष अधिक बढ़ जाए तो पहले शोधन करें फिर औषध प्रयोग से बहुत ही अच्छे लाभ मिलते हैं।

3. रोगों में जो प्रयोग करते हैं: पचंकर्म का प्रयोग करने से कोष्ठ शुद्धि होती है व कोष्ठ शुद्धि से आधी व्याधियाँ अपने आप ठीक हो जाती हैं। अग्नि वृद्धि होती है। रोग शांत होता है, दोष अपने स्थान पर आ जाते हैं, इंन्द्रियाँ ठीक प्रकार से कार्य करती हैं, बुढ़ापा देरी से आता है व बलवृद्धि होती है। [22]

निष्कर्ष

पंचकर्म केवल शरीर शुद्धि ही नहीं बल्कि रोग के शमन के लिए श्रेष्ठ है। पंचकर्म के द्वारा शरीर से बढ़े हुए दोष ही नहीं निकालते बल्कि स्नेहन व स्वेदता जैसे कर्मो से बढ़े हुए वायु के विकारों में भी शांत किया जाता है। हम कह सकते हैं कि पंचकर्म का प्रयोग हम नित्य करते हैं जैसे अभ्यंग कराना, सिर पर तैल लगाना, नाक व कान में तैल डालना आदि। जहाँ आधुनिक चिकित्सकों के पास लंबे समय से होने वाली बीमारियों के लिए अधिक विकल्प नहीं हैं वहाँ पंचकर्म जैसी चिकित्सा से लोगों को बहुत लाभ मिल रहा है। मधुमेह रोग, मोटापे में, उच्चरक्तचाप, लकवा रोग, जोड़ों व हड्डी के रोग, लंबी समय से हुई खाँसी, दमा रोग, मनोरोग में पंचकर्म चिकित्सा कारगर साबित हो रही है अतः पंचकर्म का क्षेत्र व्यापक है व वैद्य अपनी युक्ति के द्वारा बहुत से रोगों में इसका प्रयोग कर रोगियों को लाभ पहुँचा सकते हैं।

संदर्भ

1. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 258.
2. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 97.
3. त्रिकम जी यादव, संपादक, सुश्रुत संहिता निबंध संग्रह, प्रथम संस्करण, वाराणसी, चौखंभा संस्कृत संस्थान, 2012, पृ. 19.
4. त्रिपाठी ब्रह्मानंद, शार्ङधर संहिता दीपिका व्याख्या, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा ओरियन्टालिया, 2012, पृ.46.
5. त्रिपाठी ब्रह्मानंद, शार्ङधर संहिता दीपिका व्याख्या, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा ओरियन्टालिया, 2012, पृ.46.
6. शास्त्री सदाशिव अष्टांगहृदय सर्वांगसुंदरा, प्रथम संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2017, पृ. 217
7. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2017, पृ. 120.
8. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2017, पृ. 678.

9. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2017, पृ. 120.

10. शास्त्री सदाशिव अष्टांगहृदय सर्वांगसुंदरा व्याख्या, प्रथम संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2017, पृ. 217

11. त्रिकम जी यादव, संपादक, सुश्रुत संहिता निबंध संग्रह, प्रथम संस्करण, वाराणसी, चौखंभा संस्कृत संस्थान, 2012, पृ. 520.

12. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 651.

13. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 131.

14. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 683.

15. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 684.

16. त्रिकम जी यादव, संपादक, सुश्रुत संहिता निबंध संग्रह, प्रथम संस्करण, वाराणसी, चौखंभा संस्कृत संस्थान, 2012, पृ. 554.

17. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 730.

18. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 678.

19. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 705.

20. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 730.

21. त्रिकम जी यादव, संपादक, सुश्रुत संहिता निबंध संग्रह, प्रथम संस्करण, वाराणसी, चौखंभा संस्कृत संस्थान, 2012, पृ. 499.

22. त्रिकम जी यादव, संपादक, चरक संहिता आयुर्वेद दीपिका, पुनर्मुद्रित संस्करण, वाराणसी, चौखंभा सुरभारती प्रकाशन, 2011, पृ. 97.

मधुमेह रोगियों के लिए आहार

डॉ. टी. दिवाकर राव
प्रभारी मुख्य चिकित्सा अधिकारी
सी. जी. एच. एस.,नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली

मधुमेह (डायबिटीज) सारे विश्व में और हमारे देश में भी तेजी से बढ़ रही एक व्याधि है। यह सब आधुनिक खान-पान, प्रदूषित वातावरण, रहन-सहन आदि का परिणाम है। डायबिटीज मेलेटस (डी एम) जिसे सामान्यत: मधुमेह कहा जाता है चयापचय संबंधी बीमारियों का एक समूह है जिसमें लंबे समय तक उच्च रक्तशर्करा का स्तर होता है। उच्च रक्तशर्करा के लक्षणों में बार-बार पेशाब आना, प्यास की बढ़ोतरी और भूख में वृद्धि होती है। यदि अनुपचारित छोड़ दिया जाता है, मधुमेह कई जटिलताओं का कारण बन सकता है। तीव्र जटिलताओं में मधुमेह केटोएसिडोसिस, नॉनकेटोटिक हाइपरोस्मोलर कोमा, या मृत्यु भी हो सकती है। गंभीर दीर्घकालिक जटिलताओं में हृदय रोग, स्ट्रोक, जीर्ण किडनी की विफलता, दुष्ट व्रण और आंखों को नुकसान शामिल है।

अग्न्याशय में पर्याप्त इंसुलिन का उत्पादन नहीं होना या शरीर की कोशिकाओं का इंसुलिन को ठीक से प्रतिक्रिया न करना मधुमेह के मुख्य कारण हैं।

मधुमेह के चार मुख्य प्रकार

टाइप - 1 : इस प्रकार के डी एम पर्याप्त इंसुलिन का उत्पादन करने के लिए अग्न्याशय की विफलता का परिणाम हैं। इस रूप को पहले 'इंसुलिनआश्रित मधुमेह मेलाईटस' (आईडीडीएम) या 'किशोर मधुमेह' के रूप में जाना जाता था। इसका कारण अज्ञात है।

टाइप - 2 : इसमें प्रथम कोशिकाओं का इंसुलिन प्रतिरोध होता है और जैसे-जैसे रोग की प्रगति होती है, इंसुलिन की कमी भी हो जाती है। इसको पहले 'गैर इंसुलिन-आश्रित मधुमेह मेलेटस'(एनआईडीडीएम) या 'वयस्क शुरुआत मधुमेह' के रूप में जाना जाता था। इसका सबसे मुख्य कारण है शरीर का अत्यधिक वजन होना और पर्याप्त व्यायाम न करना है।

टाइप - 3 : गर्भावस्था मधुमेह तीसरा मुख्यरूप है। इसमें पहले स्त्री स्वस्थ होती है परंतु गर्भावस्था में महिलाओं में उच्च रक्त शर्करा उत्पन्न हो जाती है।

टाइप - 4 : सेकेंडरी डायबिटीज- इस प्रकार की डायबिटीज पिट्यूटरी ग्लैंड का ट्यूमर आदि के कारण होती है और उनकी चिकित्सा करने पर यह स्वत: ठीक हो जाती है। यह कुछ आधुनिक दवाइओं के कारण भी होती है और उनके बंद करने पर स्वत: ठीक हो जाती है।

मधुमेह के कारण

इसे उस व्यक्ति में आने की संभावना रहती है जो श्रमजीवी नहीं है, परिश्रम नहीं करता, व्यायाम नहीं करता, खूब साधन संपन्न है, आराम की जिंदगी जीता है, खूब खाता पीता है, मोटा ताजा है, इसलिए यह बीमारी संपन्नता की प्रतीक बन गई है। यह रोग संक्रामक नहीं है पर वंशानुगत प्रभाव से हो सकता है।

मधुमेह का निदान

मधुमेह होने के लक्षण मालूम पड़ते ही मूत्र और रक्त की जाँच करवानी चाहिए। सुबह खाली पेट रक्त की जाँच में शर्करा की मात्रा 80 से 110 एमजी/100 सी सी होना स्वस्थावस्था है। यदि भोजन पूर्व रक्त शर्करा 120 एम जी से अधिक, लेकिन 140 एम जी से कम हो तो यह मधुमेह की प्रारंभिक अवस्था होती है। यदि भोजन पूर्व रक्त शर्करा 140 एम जी से अधिक हो तो मधुमेह रोग ने जड़ जमा ली है, ऐसा माना जाता भोजन करने के दो घंटे बाद की गई जाँच में भी रक्तशर्करा 120 एम जी से कम पाई जाए तो मनुष्य स्वस्थ है, किंतु यदि 140 एम जी तक या इससे कम पाई जाए तो मधुमेह होने की प्रारंभिक अवस्था मानी जाएगी, लेकिन अगर 140 एम जी से ज्यादा पाई तो मधुमेह रोग से ग्रस्त होने की संभावना बढ़ जाती है। मधुमेह धीरे-धीरे पनपता है और जब तक उग्र अवस्था में न पहुँच जाए तब तक इसका साफ पता नहीं चल सकता, इसलिए मोटे शरीर वाले और 40 वर्ष से अधिक आयु वाले स्त्री-पुरुषों को 2-3 माह में एक बार स्वमूत्र और रक्त की जाँच कराते रहनी चाहिए। यदि मूत्र में शर्करा पाई जाए या रक्तगत शर्करा सामान्य मात्रा से अधिक पाई जाए तो अपने आहार में तुरंत उचित सुधार कर संतुलित आहार लेना आरंभ कर देना चाहिए और आवश्यक परहेज का सख्ती से पालन करना चाहिए।

डायबिटीज में आहार

मधुमेह रोगियों को अपनी एक दिनचर्या बनानी चाहिए और रोजाना उसी के अनुसार भोजन करना चाहिए। हम आपको कुछ विशेष सलाह देते हैं। रात को मैथी के दाने पानी में भिगोकर रख दें और **सुबह-सुबह 6 बजे** इस पानी का सेवन करें और मैथी के दाने भी चबा जाएँ। एलोवेरा जूस पिएँ। एलोवेरा छीलकर खा भी सकते हैं। जो लोग सुबह चाय पीना चाहते हैं वो बिना चीनी की चाय ही पिएँ, बिस्किट लेने हैं तो नमकीन वाले लें और अगर शुगर ज्यादा बढ़ी है तो बिस्किट ना ही लें।

नाश्ता (8 बजे 9 बजे के बीच) – नाश्ते में दलिया, मलाई रहित दूध और कुछ फल जैसे सेब, संतरा, अमरूद का सेवन करें। इसके अलावा अंडा, अंकुरित चने खाएं। दूध नहीं लेते तो डबल टोंड दही या छाछ ले सकते हैं।

लंच (12 बजे1 बजे के बीच) – भोजन में चोकर वाले गेहूँ आटे की रोटी, एक कटोरी सलाद, हरी सब्जी, दाल ले सकते हैं। गेहूँ के आटे को अधिक पौष्टिक बनाने के लिए चना, बाजरा का आटा मिलाकर रोटी बनाएँ। चावल खाना चाहते हैं तो ब्राउन राइस का ही सेवन करें। चावल का माढ़ ना निकालें और आलू ना खाएँ।

शाम (4 बजे) – इस समय हल्की भूख लगने लगती है। मधुमेह रोगी इस समय फीकी चाय ले सकते हैं और साथ में 1 या 2 ब्रेड (इससे अधिक नहीं)।

शाम (6 बजे) – हरी सब्जी जैसे पालक, मैथी या करेले के जूस का सेवन करें।

रात्रि भोजन (8 से 8:30 बजे) – चिकित्सकों की राय है मधुमेह रोगी को सोने से दो–तीन घंटे पहले ही भोजन कर लेना चाहिए। इसीलिए खाना समय से खाएँ और इस समय भी आप लंच की तरह से ही खाना खा सकते हैं परंतु कोशिश करिए कि एक 1 रोटी कम खाएँ क्योंकि रात्रि में भोजन थोड़ा कम ही अच्छा होता है।

सोने से पहले (10 बजे) – जो लोग सोने से पहले चाय पीने के शौकीन हैं वो डबल टोंड दूध की बिना शक्कर वाली चाय पी सकते हैं। खाना खाने के बाद आधा घंटा टहलना ना भूलें क्योंकि मधुमेह के रोगी के शरीर में इन्सुलिन की मात्रा कम होती है जिससे भोजन पचने में दिक्कत होती है अगर

थोड़ा चलेंगे तो इन्सुलिन का स्राव बढ़ जाएगा। डायबिटीज में आहार का संतुलन बनाए रखने के लिए आपको ये जानना आवश्यक है कि आपको क्या खाना है और क्या नहीं -

1. फलों में आप सेब, अनार, संतरा, पपीता, जामुन, अमरूद ले सकते हैं। इसके विपरीत आम, केला, लीची, अंगूर ये सभी अधिक मीठे फल हानि पहुँचाते हैं।

2. सब्जियों में करेला, ककड़ी, खीरा, टमाटर, शलजम, लौकी, तुरई, पालक, मैथी, गोभी ये सब लाभप्रद हैं और आलू, शकरकंद ये सभी हानि पहुँचाते हैं।

3. ड्राई फ्रूट्स में बादाम, अखरोट, अंजीर, सूखे मेवे ये सब लाभदायक हैं और किशमिश, छुआरा, खजूर ये सभी हानिप्रद हैं।

4. डब्बा बंद दूध, दही, मक्खन का सेवन ना करें।

मधुमेह की बीमारी अधिकतर 40 की उम्र के बाद ही होती है। या यूँ कहें कि बीमारी पहले ही हो जाती है लेकिन लोगों को पता 40 के बाद ही चलता है। तो ऐसे में आपके शरीर को कितनी कैलोरी की आवश्यकता है इसे ध्यान में रखकर भोजन करें ।

यदि व्यक्ति की आयु अधिक है और वह ज्यादा काम नहीं करता तो उसे दिन भर में 1500 से 1800 कैलोरी ही लेनी चाहिए। अब समझने वाली बात यह है कि व्यक्ति के शरीर के अनुसार उसका डाइट चार्ट अलग-अलग हो सकता है। अगर व्यक्ति मोटा है और मेहनत कम करता है तो अपने भार के हिसाब से 20 से 25 कैलोरी प्रति किलोग्राम ले सकता है। अगर मेहनत भी करता है तो 30 कैलोरी प्रति किलो ग्राम ले सकता है।

पतला व्यक्ति है तो 2200 कैलोरी रोजाना ले सकता है और अगर मेहनत करता है तो 5 कैलोरी प्रति किलो के अनुसार से वह बढ़ा सकता है। यदि व्यक्ति बहुत अधिक दुबला है तो उसे और कम कैलोरी की आवश्यकता है तो वह अपने भार के अनुसार 20 से 25 कैलोरी प्रति किलोग्राम ले सकता है और शारीरिक श्रम भी करना पड़ता है तो 5 कैलोरी प्रति किलो के हिसाब से वह बढ़ा सकता है। डायबिटीज में व्यक्ति को अधिक कैलोरी कार्बोहाइड्रेट युक्त पदार्थों से लेना चाहिए अर्थात आपकी कैलोरी का वितरण इस प्रकार हो 40 प्रतिशत कैलोरी कार्बोहाइड्रेट युक्त चीज़ों से, 40 प्रतिशत कैलोरी

फैट वाली चीज़ों से और 20 प्रतिशत कैलोरी प्रोटीन वाली चीज़ों से। अगर व्यक्ति मोटा है तो फैटवाली चीजें कम खाएं और इस प्रकार कैलोरी का वितरण करें। 60 प्रतिशत कैलोरी कार्बोहाइड्रेट युक्त चीज़ों से, 20 प्रतिशत कैलोरी फैट वाली चीज़ों से और 20 प्रतिशत कैलोरी प्रोटीन वाली चीज़ों से। इस प्रकार व्यक्ति को अपना डाइट चार्ट तैयार करना है। और उसी के अनुसार जीवन भर आहार लेना है।

अर्श में आयुर्वेदीय शल्य चिकित्सा

भू.पू. प्रोफेसर. (डॉ) चतुर्भुज भूयां
गुजरात आयु.विश्वविद्यालय, जामनगर, गुजरात

आयुर्वेद एक शाश्वत चिकित्सा विज्ञान है। इसमें चिकित्सा करने से रोगी के रोग का निवारण होता है। इसके द्वारा स्वस्थव्यक्ति के स्वास्थ्य का संरक्षण होता है तथा आयु की वृद्धि होती है।

यह विश्व की सबसे प्रथम एवं पुरातन चिकित्सा पद्धति है। वर्तमान में प्रचलित आयुर्वेद चिकित्सा सबसे सफल एवं सरल चिकित्सा है। यह चिकित्सा विज्ञान प्राणी मात्र में हित एवं चिकित्सा के लिए लिखा गया हैं और इसके अंदर शल्य चिकित्सा का भी समावेश होता है। इस शल्य चिकित्सा में सर्जरी तथा पेरासर्जरी, चिकित्सा की दो प्रमुख विधियाँ हैं। पैरासर्जरी पद्धति को विश्व में बड़ा महत्व और विश्वास दिया जाता है। पैरासर्जिकल चिकित्सा (Potential Countering Aseinst Therapy) के अंतर्गत क्षार कर्म पी.सी.ए. थेरेपी, अग्निकर्म, डी.सी. रक्तमोक्षण थेरेपी (Direct Countering Therapy) का समावेश होता है। पैरासर्जिकल चिकित्सा में सभी प्रकार के गुदरोग जैसे कि अर्श, भगंदर, परिकर्तिका, गुदभ्रंश, गुदशोथ, गुदकंडू, गुदविद्रधि इत्यादि लगभग चालीस प्रकार के रोग एवं गृध्रसी, संधिगतवात, कदर, कर्ण, मस्सा विचर्चिका, एक्जिमा, शिराकुटिलता, वेरिकोज़ वेन, अश्मरी, प्रोस्टेट संबंधी तकलीफ, व्रण, क्षत अस्थिभग्न इत्यादि की अनेक प्रकार से सफल चिकित्सा की जाती है। इसके द्वारा रोगों का निवारण जड़ से होता है। जिससे रोग के दुबारा होने की संभावना नहीं रहती है। इस संदर्भ में यह जानकारी देना चाहता हूँ कि अर्श, भगंदर, परिकर्तिका के कई हजार रोगियों का इस विधि के द्वारा चिकित्सा करने पर इन रोगों का दुबारा होना नहीं देखा गया है। क्षार कर्म चिकित्सा के अंतर्गत क्षार सूत्र, क्षारवर्ति, क्षारतैल, क्षारलोशन इत्यादि कई साधन विधियों से क्षार का प्रयोग रोगी के ऊपर बाह्य रूप से किया जाता है। इसके अलावा शरीर के अंदर होने वाली बीमारियों जैसे कि अश्मरी, उदरशूल, अर्बुद, प्रोस्टेट आदि में पीने की दवा के रूप में प्रयोग किया जाता है। आजकल इस क्षारकर्म पद्धति का अर्श, भगंदर, परिकर्तिका, गुदसंकोच आदि रोगों में प्रयोग किया जाता है। सबसे कष्टदायी अर्श रोग, गुद में होने वाले रोगों में 60% से अधिक पाया जाता है। यह गुद रोग भयंकर, कष्टदायी तथा प्राणनाशी होता है। अर्श को समाज में बवासीर, अर्श, मस्सा, पाईल्स व हेमरोयड्स नाम

से जाना जाता है। यह बीमारी किसी भी वय में किसी को भी हो सकती है। अधिकतर यह 30-50 वर्ष की आयु के अंदर पाई जाती है। इस रोग के होने का प्रमुख कारण विबंध या कब्ज को माना गया है। लोगों की जीवन शैली में परिवर्तन, देर रात तक जागना, देर रात में खाना पीना, फास्टफूड का अत्यधिक सेवन, प्रतिदिन बाजार की वस्तुओं को खाना, ज्यादा समय तक बैठे रहना, ज्यादा देर तक खड़े रहना, अत्यधिक ठंडे पानी को पीना एवं ज्यादा शराब पीना आदि कारणों से अर्श होता है।

प्रमुख निम्न लक्षण होने पर जानें कि व्यक्ति को अर्श हो गया है। कब्जियत का रहना, संडास के समय रक्त का गिरना, गुदा से बाहर आना, गुद भाग में मल त्याग के समय दर्द होना व रक्त का गिरना फलस्वरूप रोगी का कमजोर होना ये प्रमुख लक्षण पाए जाते हैं। अर्श रोग की समय पर चिकित्सा न करने से यह निम्न चार अवस्थाओं को प्राप्त होता है।

प्रथम अवस्था में – कब्जियत रहना, खून का गिरना, द्वितीय अवस्था में –खून का गिरना, मस्से का बाहर आना और पुनः अंदर जाना, तीसरी अवस्था में –खून का गिरना, मस्से का बाहर आना और हाथ से दबाने पर ही अंदर जाना। चतुर्थ अवस्थापाखाने के समय के अलावा रक्त (ब्लड) का आ जाना, मस्से का बाहर ही रह जाना व दबाने पर भी अंदर न जाना।

इस रोग का उपचार अवस्था पर निर्भर करता है। प्रारंभ से पायखाना साफ आने की दवाई जैसे घृत मर्जित हरितकी चूर्ण, पंचसकार चूर्ण, षड विरेचन, शिवावटी आदि मात्रानुसार दिया जाता है। इसके साथ खून बंद करने के लिए शोणितार्गल रस, रक्त स्तंभक योग, चंद्रकला रस, नागकेशर चूर्ण, अर्श कुठार रस, दूर्वास्वरस, सूरणवटी, आयापान टैब्लेट इत्यादि दवाइयों का प्रयोग किया जाता है।

अगर इस प्रारंभिक चिकित्सा से लाभ नहीं होता है, तो तुरंत चिकित्सक से परार्मश लें। अगर इससे भी लाभ नहीं होता है तो किसी शल्य चिकित्सक से परामर्श लें।

इस प्रसंग में विभिन्न आयुर्वेद विश्वविद्यालय, स्नात्तकोत्तर अनुसंधान चिकित्सालय और आयुर्वेद चिकित्सालय तथा करिस्मा केंद्र शल्य चिकित्सा विभाग में पर्याप्त सुविधा सहित, वैज्ञानिक रूप से चिकित्सा की जाती है। अर्श रोग का सर्वाधुनिक सफल क्षार कर्म पद्धति पी.सी.ए. थेरेपी से इलाज किया जाता है। जिसमें खून का नाश होना, मांसपेशी का कटना, चीरफाड़ करना, अधिक समयतक चिकित्सालय में रहना आदि सुविधाएँ नहीं होती हैं। चलने-फिरने, खाने-पीने से कोई दिक्कत

नहीं होती है। चिकित्सा के पश्चात गुदा में किसी प्रकार के कुप्रभाव की संभावना नहीं रहती है। चिकित्सा उपरांत रोग के द्वारा उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती है। यहाँ चिकित्सा कराने सभी वर्ग के लोग आते हैं और सफल चिकित्सा का लाभ उठाते हैं। इस चिकित्सा को लोकप्रिय बनाने के लिए बिभिन्न जगहों पर शिक्षा अनुसंधान द्वारा निशुल्क चिकित्सा शिविरों का आयोजन किया जाता है। इसका लाभ समाज के सभी वर्ग के, 30-85 वर्ष की उम्र तक के लोग उठा सकते हैं।

यह आयुर्वेदिक शल्य चिकित्सा, अर्श रोगो की सबसे सफल चिकित्सा देखी गई है, अनुसंधान विभाग में यह चिकित्सा सभी लोग, सभी आयु और अर्श की सभी अवस्था मे लाभदायक होती है। अर्श रोग से पीडित, कई बार ऑपरेशन से पी़डित रोगी रोगी हुए बिना इस चिकित्सा का लाभ ले सकते हैं। इस विधि से रोगी को सामाजिक, मानसिक और शारीरिक लाभ होता है व आर्थिक हानि भी नहींहोती है, अतः अधिक से अधिक रोगी इस चिकित्सा का फायदा ले सकते हैं।

विचर्चिका: निदान एवं चिकित्सा

डॉ भीमसेन बेहेरा
वरिष्ठ वैज्ञानिक अधिकारी(आयुर्विज्ञान)
वै. त.श. आयोग, नई दिल्ली

विचर्चिका की व्युत्पति एवं निरुक्ति

वि उपसर्ग पूर्वक अध्ययनार्थक 'चर्चपूजयां' वा धातु से विचर्चिका शब्द की निष्पत्ति होती है।

क्षुद्र पिडिका जो फैलने वाली साथ-साथ कंडू वाली और त्वचा के स्तर पर उभरने वाली हो उसे विचर्चिका कहते हैं।

निरुक्ति

विशेषण कर आयते पाणी पादस्य त्वक् विदारयेत अनया इति विचर्चिका। (शब्द कल्पद्रुम)

विचर्चिका के दो लक्षण मिलते हैं।

1) प्राय: हाथ और पाँव में होता है।

2) त्वचा में विदारण होना।

विचर्चिका को चरकाचार्य ने क्षुद्र कुष्ठ में (च. चि. 11/3)

सुश्रुताचार्य ने क्षुद्र रोग में (सु. नि. 13/17)

अष्टांगहृदय में महाकुष्ठ में (अ. ह. नि. 14/7) में शामिलकिया है।

विचर्चिका उत्तान धातु में रहने वाली, अल्प दोषयुक्त, स्थानिक एवं धीरे-धीरे बढ़ने वाली स्वभाव से युक्त है, किंतु सुश्रुत ने विचर्चिका को क्षुद्ररोग में गिनकर उसका चिरकालीनत्व एवं बार बार होने का स्वभाव है, इस तरह का निर्देश किया है।

विचर्चिका का शरीर में कोई स्थान निर्दिष्ट नहीं है। यहशरीर के किसी भी अवयव में हो सकती है। सु. नि. 5 में इसका स्थान गात्र बताया है। गात्र से पाणिपाद लेना चाहिए ऐसा डल्हणाचार्य

का अभिमत है। यहीं पर यह भी उल्लेख है कि पाद को छोड़कर शरीर के अन्य स्थानों में भी विचर्चिका होती है।

त्वचा में स्थान

चरक एवं सुश्रुत आचार्यों के मत से विचर्चिका के स्थान में मत भिन्नता है। मत भिन्नता का यह कारण त्वक् संख्या की न्युनाधिकता है। चरक मतेन त्वचा की संख्या 6 है जबकि सुश्रुत इसकी संख्या 7 मानते है। चरक दद्रुविचर्चिका आदि विविध कुष्ठ का अधिष्ठान चतुर्थ त्वचा को मानते हैं।जबकि सुश्रुत ने इन रोगों का अधिष्ठान चतुर्थ एवं पंचम दोनों त्वचा को स्वीकार किया है कि इसका कारण यह हो सकता है। विचर्चिका में त्वचा का सर्वप्रथम चतुर्थ स्तर ही प्रभावित होता है, किंतु उपेक्षा करने से चिरकालानुबंधी होने के कारण पंचम स्तर की भी दुष्टि होती है क्योंकि त्वचा में उत्पन्न कुष्ठ उपेक्षा करने से रक्त मांसादि गंभीर धातुओं में व्याप्त हो जाता है। (सु.नि. 5/20)

विचर्चिका के निदान

विचर्चिका को क्षुद्र कुष्ठ के अंतर्गत बताया है, किंतु विचर्चिका के स्वतंत्र निदान नहीं बताए हैं। इसलिए जो निदान कुष्ठ के हैं वही निदान क्षुद्र कुष्ठ को भी उत्पन्न कर सकते हैं। कुष्ठ रक्त दुष्टि से भी होता हैं (च. सु. 24/11-12)। इस पर से कह सकते हैं कि रक्त दुष्टि के भी जो निदान हैं उनको भी विचर्चिका के निदान के अंतर्गत ले सकते हैं।

सुविधा की दृष्टि से कुष्ठ निदान को तीन विभाग में विभक्त कर सकते हैं।

(1) कुलज (2) जन्मोत्तरकालज (3) पापकर्म एवं शापादि

1) कुलज

कुष्ठ में कुलज प्रवृत्ति भी पाई जाती है। कुष्ठि माता-पिता के गर्भोत्पादक शुक्रशोणित बीज कुष्ठ दोष से जब प्रभावित होता है तब यह दोष उसकी संतानों में भी आता है। (सु. नि. 5/27 एवं 30)

2) जन्मोत्तर कालज

जन्म के बाद व्यक्ति के आचार से जो व्याधि होती है उनको जन्मोत्तर कालज कहते हैं। इस प्रकार के कुष्ठ के निम्न हेतु शास्त्र में वर्णित है।

आहारजन्य – मिथ्या आहार, विरुद्ध आहार, अहित आहार,

विहार जन्य – शीत-उष्ण सेवन, मिथ्या विहार

मानसिक हेतु जन्य - काम, क्रोध, चिंता इत्यादि

संक्रमणजन्य – विविध जीवाणुजन्य

3) पापकर्म एवं शापादि (सु. नि. 5/29)

संक्रमण जन्य : महर्षि सुश्रुत ने क्षुद्र कुष्ठ को संसर्गजन्य माना है।

प्रसंङ्गादात्र संस्पर्शान्निश्वासात्सहभोजनात्।

सहशय्यासनाच्चापि वस्त्रमाल्यानुलेपनात्।।

कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च।

औपसर्गिक रोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्।। (सु. नि. 5/32-33)

निदान

आहारज निदान

शीतोष्ण, संतर्पण-व्यत्यासम सेवन, अपतर्पण, मधु, फाणित—अति मात्रा में सेवन, मत्स्य, मूलक, काकमार्च, अजीर्ण में भोजन, चिलचिम मत्स्य सह पायसा, हायनक प्रत्येक के साथ दुग्ध, दही, यवक तक्र, बदर, कुलत्थ, माष,चीनक-अतसी, कुसुम्भ, स्नेहयुक्त, उद्दालक –भोजन, जौ विदग्धावस्था में विदाही सेवन, स्नेहातियोग, द्रवपान- अति मात्रा में, गुरुद्रव्य, गुड़, तिल, लवणदुग्ध, ग्राम्य मांस—के साथ दूध का सेवन, औदक मांस, आनूप मांस, विरुद्ध भोजन, असात्म्य भोजन, मिथ्या आहार।

विहारज निदान

उपरोक्त नं. 11 से 15 अन्नों के सेवनोत्तर

व्यायाम, मैथुन, संताप सेवन, दिवास्वाप, भय- के पश्चात् सहसा, श्रम-शीतल जल से स्नान, संताप, छर्दि का अवरोध, शीत- अविधि, उष्ण- रूप से, लंघन- इनका सेवन, भोजन, पंचकर्म में व्याप्ति, व्यायाम- स्नेहोपरांत मैथुन, व्यायाम, मैथुन- वमनोपरांत, मिथ्याविहार

आचारज निदान

विप्र—तिरस्कार, गुरु, पूर्वकृतकर्म, चौरकर्म, पापाचरण, कृतघ्न होना, असत्य बोलना, ब्राह्मण, स्त्री, सज्जन इत्यादि का वध करना।

विचर्चिका के पूर्व रूप

निदान की तरह विचर्चिका के स्वतंत्र पूर्व रूप दर्शाए नहीं हैं इसलिए कुष्ठ के जो पूर्व रूप दिए हैं वही सब पूर्वरूप विचर्चिका के हैं। विभिन्न ग्रंथकारों ने विभिन्न पूर्वरूप त्वचा की रचनात्मक एवं कार्यशीलता में एक अवस्था तक जो विकृति आती है उस पर से दिए हैं।

पूर्वरूप

अस्वेदन, अतिस्वेदन, पारुष्य, अतिश्लक्ष्णता, वैवर्य, कंडू, निस्तोद, सुप्तता, परिदाह, परिहर्ष, लोमहर्ष, खरत्व, गौरव, श्वयथु, विसर्पागमनमीक्ष्ण, कायच्छिद्रेषुपदेह, व्रणानांदुष्यनि, व्रण का रोपण देर से होना, स्पर्श अज्ञानता, उनत्ति कोठानां, श्रम, क्लम, व्रणानामधिकशूल, व्रणानांशीघ्रोत्पतिश्चिर स्थिति, दाह, तोद, रुक्षत्व, असृज काष्णर्य।

विचर्चिका के लक्षण (रूप)

महर्षि चरक एवं वागभट्ट के अनुसार कंडू स्राव एवं श्याव वर्ण की पिडिका होती है। अर्थात् आई विचर्चिका का वर्णन मिलता हैं। सुश्रुत मतानुसार विचर्चिका में रुक्षता एवं रुजा लक्षण मिलते हैं। अर्थात् शुष्क विचर्चिका का वर्णन मिलता हैं।

रूप

कंडू, श्याव पिडका, बहुस्राव, लसीकाढया, हाथ-पॉव में राजिका उत्पन्न होना, अतिरुजा, रुक्षता।

संप्राप्ति

विचर्चिका की संप्राप्ति लघुत्रयी एवं बृहत्त्रयी में स्पष्ट रूप से नहीं मिलती है। कुष्ठ की जो सामान्य संप्राप्ति वर्णित है उन्हीं को विचर्चिका के लिए भी मानते हैं।

चक्रपाणि ने बताया है कि यद्यपि कुष्ठ रोग की उत्पत्ति में दोष दूष्यों की दुष्टि आवश्यक है, तथापि महाकुष्ठों में दूष्यों की दुष्टि क्षुद्र कुष्ठ की अपेक्षा विशेष होती हैं।

चरक मतानुसार

निदान सेवन

त्रिदोषप्रकोप

त्वक, रक्त, माँस, लसिका में जाना

शैथिल्यता उत्पन्न

त्रिदोष उपरोक्त दूष्यों में रहना

त्वक्, रक्त, माँस, लसिका दुष्टि

कुष्ठ उत्पति

दोषएवं दूष्य अंशाश कल्पना, विकल्प भेद से वे कुष्ठ को उत्पन्न करते है। विचर्चिका क्षुद्र कुष्ठ में वर्णित व्याधि है।

शुश्रुताचार्य मतानुसार

निदान सेवन

वात प्रवृद्ध

पित्त एवं कफ प्रकुपित

तिर्यक् गामी शिरा द्वारा संपूर्ण शरीर में

बाह्य रोग मार्ग (त्वक्, रक्त, लसिका)

मंडलोत्पत्ति

चिकित्सा नहीं करना

गंभीरधातुओं में जाना

संप्राप्ति घटक

दोष - त्रिदोषज, कफ, प्रधान (च., अ.ह.अ.स.)

पित्तप्रधान (सु.)

वातप्रधान (मा.नि.)

वात- व्यान वायु, समान वायु

पित्त- पाचक पित्त, भ्राजक पित्त

कफ- अवलंबक कफ, क्लेदक कफ

दुष्य - त्वक्, रक्त एवं लसिका

अग्नि- जठराग्निमांद्य, धात्वाग्निमांद्य

आम- आमविष

उद्भव- अंतः कोष्ठ

संचर – तिर्यक् गामीसिरा

स्रोतस - रस, रक्त, लसिका (स्वेदवह)

स्रोतो दुष्टि - विमार्गगमन, संग

अधिष्ठान -त्वक्, रक्त, लसिका

अवयव – सर्व शरीरगत त्वक्

साध्यासाध्यता

चरक सुश्रुतादि ग्रंथों में जो साध्यासाध्यता के लक्षण बताए गए हैं, वे सब महाकुष्ठ के हैं। क्षुद्र कुष्ठों में वे लक्षण नहीं मिलते हैं। महाकुष्ठ के साध्यासाध्यता का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'काकणक' को छोड़कर प्रायः अन्य महाकुष्ठ साध्य हैं (च.नि. 5)। किंतु चिकित्सा की उपेक्षा करने से ये भी असाध्य हो जाते हैं। इससे यह ज्ञात होता हैं कि दोष बाहुल्य युक्त गंभीर धातुओं में प्रवृत्ति करने वाला महाकुष्ठ शीघ्र चिकित्सा से साध्य हो सकता है, तो विचर्चिका आदि क्षुद्र कुष्ठ जिसके दोष अल्प एवं उत्तान धातु तक ही सीमित रहते हैं, अवश्य ही साध्य हैं। परंतु इनकी भी उपेक्षा करने से ये जीर्णावस्था में पहुंचकर दोष दुष्य संमूर्च्छना स्वरूप उत्तरोत्तर धातुओं में गति कर सकते हैं ऐसी अवस्था में विचर्चिका आदि क्षुद्र कुष्ठ असाध्य तो नहीं परंतु कृच्छ साध्य अवश्य ही हो सकते हैं।

पथ्यापथ्य

त्वक् रोग की चिकित्सा में पथ्यापथ्य विषय का वर्णन करना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है। पथ्य की परिभाषा देते हुए चरकाचार्य कहते हैं कि -

जो आहार-विहार मन, शरीर एवं इंद्रिय के लिए प्रिय हो वह पथ्य है जो अप्रिय हो वह अपथ्य है। परंतु आहार-विहार की प्रिय-अप्रिय व्यक्ति विशेष की प्रकृति, मात्रा, काल, देश, क्रिया इत्यादि पर निर्भर करता है (च.सू. 25/45)। एक अमुक आहार किसी के लिए पथ्य हो सकता हैं तो वही आहार किसी के लिए अपथ्य हो सकता है। अतः अष्ट आहार विधि विशेषायतन एवं नियमों के अनुसार आहार-विहार करने वाले व्यक्ति में रोग होने की संभावना कम रहती है। अतएव पथ्य को यदि पूर्ण चिकित्सा कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। अतएव कहा भी है कि पथ्य सेवन करने वाले में रोग निवारण के लिए औषध की कोई आवश्यकता नहीं है और अपथ्य सेवन करने वाले में रोग निवारणार्थ हजारों औषध निष्फल होती हैं। अतः पथ्य को भेषज कहा गया है।

जहाँ तक त्वक् रोग में पथ्य का प्रश्न है वहाँ तक शास्त्र में वर्णित निषेधित आहार-विहार का त्याग करना चाहिए तथा शास्त्र वर्णित आहार-विहार का पालन श्रेयस्कर होगा। इस तरह विषय हेतुओं का त्याग एवं समभाव का सेवन करने से धातुओं की विषमता नष्ट होकर समभाव अनुबंधन होता है धातुओं की समता ही आरोग्य हैं। (च.सू. 16/36)

लघूनि चान्नानि हितानि विद्यात् कुष्ठेषु शाकानि च तिक्तकानि।

भल्लातकैः सत्रिफलैः सनिम्बैर्युक्तानि चान्नानि घृतानि चैव।।

पुराण धान्यान्यथ जाङ्गलानि मांसानि मुदाश्च पटोलयुक्ताः।

शस्ता, न गुर्वम्लपयोदधीनि नानूपमत्स्या न गुडस्तिलाश्च।। (च.चि. 7/82.83)

पथ्यः लघु अन्न, तिक्त रसवाले शाक, पुराना शालि चावल (धान्य), जांगल प्रदेश के प्राणियोंका मांस और त्रिफला, पटोल, खदिर, निम्ब और भल्ला तक को भोजन में मिलाकरसेवन करना चाहिए।

अपथ्यः दही, दुग्ध, आनूप प्रदेश के प्राणी, उड़द, तिल, गुड़, मत्स्य, अम्लरस और गुरुभोजन का त्याग करना चाहिए।

तत्र शालिसष्टिकयवगोधूमकोद्रवश्यामा कोदालकादीननवान् भुन्जीत् मुद्राढक्यारन्यतरस्य यूषेण सुपेन वा निम्बपत्ररूष्करण्यामिश्रेण, मण्डूकपण्यैवलगुजाररूषकरूपिकापुष्पैः सर्पिः सिद्वैः सर्षपतैल सिद्धेर्वा, तिक्तवर्गेण वन्हिभिहितेन, मांससात्म्याय वा जाङ्गलमांसमेदस्कवितरेत, तैलंवज्रकमभ्यङ्गथै, आरग्वधादिकषायमुत्सादनार्थे, पानपरिषेकावगाहादिषु च खदिरकषाय, इत्येष आहाराचार विभागः।। (सु.चि. 9/5)

पथ्यः पुराने शाली, साठी, जौ गेहूँ, कोद्रव, सावा और अरण्यको द्रव का भोजन, मूंग या अरहर किसी एक के यूष (पतलीदाल) और निम के पत्ते और भल्लातक के सूप के साथ सेवन करना चाहिए, अथवा मंडूकपर्णी, बाकुची, वासा और रूपिका पुष्प (मदार का पुष्प) को घृत या सरसों के तैल में पकाकर अथवा तिक्तक वर्ग (पडवल, बाकुची, पटोलादि) के साथ पुराने शाली आदि का भोजन करना चाहिए। मांसाहारी रोगियों को जांगल जीवों का मेद रहित मांस भोजन के लिए देना चाहिए। मालिश के लिए वज्रक तैल (सप्तपर्ण, करंज) आदि से सिद्ध तैल का प्रयोग करना चाहिए। आरग्वधादि गण के कषाय, चूर्ण, कल्क, स्वरसादि का प्रयोग व्रण के उत्सादन के लिए करना चाहिए। पान परिषेक और स्नान में खदिर कषाय का प्रयोग करना चाहिए। सुश्रुतमतानुसार कुष्ठ रोग के लिए यह आहार तथा आचार की व्यवस्था है।

तत्र त्वग्दोषि मांसवसा दुग्धदधि तैल कुलत्थ माषनिष्पावे क्षुपिष्ठ विकाराम्ल विरुद्धध्यशनाजीर्ण विदाहभिस्यन्दानि दिवास्वप्नं व्यवायन्य परिहीत् । (सु.चि. 9/4)

अपथ्य : मांस, वसा, दुग्ध, दही, तैल, कुलथी, उड़द, पिष्टान्न, गन्ने के रस से बने पदार्थ, पिष्टि से बनी वस्तुएँ अम्ल द्रव्य, विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्णास्था में भोजन, विदाही और अभिष्यंदि पदार्थों का सेवन तथा दिन में सोना एवं मैथुन का परित्याग कर देना चाहिए।

अम्लपित्त (हाइपर-एसिडिटी) : एक आयुर्वेद विचार

डॉ जयवंत वसंत खरात
एम.एस.(आयुर्वेद)
अधिव्याख्याता-मा.श्री.अण्णासाहेब डांगे आयुर्वेद मेडिकल कॉलेज
अष्टा (महाराष्ट्र)

'स्वस्थस्य स्वास्थ रक्षणम आतुरस्य विकार प्रशमनं ' इसके अनुसार सभी को स्वस्थ रखना और आतुर की चिकित्सा करना ही आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन है, इसलिए ही आयुर्वेद को जीवन का शास्त्र कहा जाता है। आयुर्वेद में स्वस्थ की परिभाषा 'समदोषः समाग्निश्च समधातु मल क्रियाः प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्यइत्यभिधीयते' के अनुसार स्वस्थ रहने के लिए मनुष्य के शरीर में सभी रचनाओं और क्रियाओं का संबंध तथा तालमेल हमेशा रहना चाहिए। यदि इसमें कमी या अधिकता होती है तो व्यक्ति रोगी हो जाता है।

उदर में पित्त (गैस्ट्रिक ज्युस) उचित मात्रा में होती है तो भोजन का पाचन ठीक से होता है सामान्यतः कटु अधिक और अम्ल कम होता है। भोजन के पाचन के समय यदि अम्लीभाव की अवस्था में किसी भी कारण से व्यवधान उत्पन्न हो जाए तो पित्त विदग्ध हो जाता है जिससे पित्त की अम्लता बढ़ जाती है। पाचन की इस विकृत अवस्था को विदग्धाजीर्ण कहते हैं। विदग्धाजीर्ण होने पर आहार के पाचन की अम्लीभाव अवस्था में अधिक अम्लयुक्त पित्त बनता है। अम्लपित्त में विदग्ध हो जाता है। अतः इसमें सामान्यतः अम्ल व उष्ण गुण वृद्धि के लक्षण मिलते हैं। अम्लपित्त का ठीक से उपचार न होने पर आमाशय व आंत्रों में व्रणोत्पत्ति भी हो जाती है। इस अवस्था को परिणाम शूल (पेप्टिक अल्सर) कहते हैं।

अम्लपित्त के हेतु

1. दवाइयाँ –दर्द कम करने वाली दवाइयों का अधिक प्रयोग अम्लपित्त का कारण बन सकता है।
2. एलकोहॉल – मद्यपान और जंक फूड खाना
3. धूम्रपान – बीड़ी, सिगरेट, तंबाकू के कारण भी अम्लपित्त होती है।
4. खाने में बदलाव अधिक मसालेदार एवं चिकनाई वाला भोजन लगातार खाने से भी अम्लपित्त हो सकता है।

5. अनियमित समय पर खाना; भोजन अगर सही समय पर ना करें तो उन व्यक्तियों में अम्लपित्त की संभावना बड़ जाती है।

6. तनाव / स्ट्रेस-शारीरिक एवं मानसिक तनाव भी आजकल अम्लपित्त का बहुत कारण है।

7. इसके साथ कुछ अन्य कारण हैं जिनमें (1) गर्भावस्था, (2) मोटापा, (3) उपवास प्रमुख हैं।

अम्लपित्त लक्षण

पेट में शूल होना, उलटी जैसी अनुभूति होना, आध्मान, छाती में जलन, परिणाम शूल, अमाशय में व्रण।

संप्राप्ति – अम्लपित्त में पित्त दोष की अधिकता होने से प्राकृत पित्त विदग्ध पित्त में परिवर्तित होता है। जिसके कारण पाचन शक्ति कम हो जाती हैं और व्यक्ति अस्वस्थ हो जाता है। आमाशय में विदग्ध पित्त अम्ल हो जाने से, मात्रा में अधिक होने पर अम्लपित्त की उत्पत्ति होती है।

चिकित्सा

पित्त शमन अग्नि दीपन और वातानुलोमन करना चाहिए तथा

1. निदानपरिवर्जन
2. विरेचन -3 से 4 दिन अविपत्तिकर चूर्ण देना चाहिए
3. औषधी चिकित्सा

    क) गुडुची कषाय शहद के साथ

    ख) पाटोलादि कषाय दिन में दो से तीन बार

    ग) दाडिमावलेह

पथ्यापथ्य समय पर भोजन करना है।

आहार – खाने में दाड़िम, पटोल, लौकी का उपयोग अधिक करना चाहिए

विहार-गरम हवा में विचरण एवं रात्रि जागरण वर्जित हैं।

तिक्त रस औषधियों को जो कि पित्तशमन और अग्नि दीपन करती हैं उनका अम्लपित्त में बहुत अधिक महत्व होता है। पित्तशामक कषाय का सेवन करना चाहिए। मधुर रस पित्तशमन भी करता है।

ग्राहक फार्म

सेवामें :

अध्यक्ष,

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,

पश्चिमी खंड -7, रामकृष्णपुरम्, नई दिल्ली - 110066

महोदय,

कृपया मुझे "विज्ञान गरिमा सिंधु" (त्रैमासिक पत्रिका(का एक वर्ष के लिए ..... से ग्राहक बना लीजिए। मैं पत्रिका का वार्षिक सदस्यता शुल्क ..... रुपये, अध्यक्ष, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली के पक्ष में, नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय डिमांड ड्राफ्ट सं. ..... दिनांक ..... द्वारा भेज रहारही/ हूं। कृपया पावती भिजवाएं।

नाम .....

पूरापता.....

.....

भवदीय

(हस्ताक्षर)

	सामान्यग्राहकों / संस्थाओं के लिए	विद्यार्थियों के लिए
प्रति अंक	रु. 14-00	रु. 8-00
वार्षिकचंदा	रु. 50-00	रु. 30-00
पाँच वर्ष	रु. 250-00	रु. 150-00
दस वर्ष	रु. 500-00	रु. 300-00
बीस वर्ष	रु. 1000-00	रु. 600-00

डिमांड ड्राफ्ट "अध्यक्ष, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय होना चाहिए। कृपया ड्राफ्ट के पीछे अपना नाम पूरा पता भी लिखें। ड्राफ्ट 'एकांउट पेई' होना चाहिए। यदि ग्राहक विद्यार्थी हैतो कृपया निम्न प्रमाणपत्र- भी संलग्न करे :

कृपया डिमांड ड्राफ्ट के पीछे अपना नाम और पता लिखें

विद्यार्थी-ग्राहक प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि कुमारीश्रीमती/श्री/ ..... इस विद्यालय/ महाविद्यालयविश्व/विद्यालय के ..... विभाग का छात्रकी/ छात्रा है।

(हस्ताक्षर)

(प्राचार्य/विभागाध्यक्ष)

(मोहर)

प्रकाशन विभाग के बिक्री केंद्र

Sales Counters of Department of Publication

1	**किताब महल** प्रकाशन विभाग, बाबा खड़ग सिंह मार्ग, स्टेट एम्पोरियम बिल्डिंग, यूनिट नं. 21, नई दिल्ली-110001	**Kitab Mahal** Department of Publication, Baba Kharag Sigh Marg, State Emporia Building, Unit No.-21, New Delhi-110001
2	**बिक्री पटल** प्रकाशन विभाग, उद्योग भवन, गेट न.-3, नई दिल्ली-110001	**Sale Counter** Department of Publication, Udyog Bhawan, Gate No.-3, New Delhi-110001
3	**बिक्री पटल** प्रकाशन विभाग, उद्योग भवन, गेट न.-3, नई दिल्ली-110001	**Sale Counter** Department of Publication, Udyog Bhawan, Gate No.-3, New Delhi-110001
4	**बिक्री पटल** प्रकाशन विभाग, संघ लोक सेवा आयोग, धौलपुर हाउस, नई दिल्ली-110001	**Sale Counter** Department of Publication, Union Public Service Commissions, Dholpur House, New Delhi-110001
5	**बिक्री पटल** प्रकाशन विभाग, सी.जी.ओ.काम्पलेक्स, न्यू मेरीन लाइन्स, मुंबई-400020	**Sale Counter** Department of Publication, C.G.O. Complex, New Marine Lines, Mumbai-400020
6	**पुस्तक डिपो** प्रकाशन विभाग, के.एस.राय मार्ग, कोलकाता-700001	**Pustak Depot,** Department of Publication, K. S. Roy Marg, Kolkata-700001s

आयोग का बिक्री केंद्र

Sales Counter of CSTT

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग मानव संसाधन विकास मंत्रालय पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066	Commissionfor Scientificand Technical Terminology Ministryof HumanResource Development WestBlock-VII,R.K.Puram, NewDelhi-110066

अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें :

For detailed information please contact:

प्रभारी अधिकारी (बिक्री) वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग मानव संसाधन विकास मंत्रालय पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली-110066 फोन नं.-011&26105211/विस्तार-24	The Officer-in-Charge (Sales) Commission for Scientific and Technical Terminology Ministry of Human Resource Development West Block-VII, R. K. Puram, New Delhi-110066 Ph. No.-011-26105211/ Extn.-246